अहिंसा तत्त्व दर्शन

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

अहिंसा तत्त्व दर्शन

मुनि नथमल

मूल्य छह रुपये
द्वितीय सस्करण, १९६८

प्रकाशक
कमलेश चतुर्वेदी
प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

मुद्रक रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली

मेरी शब्दात्मा में
जिनकी अर्थात्मा का चैतन्य है
उन
आचार्यश्री तुलसी
को

आभार

'अहिंसा तत्त्व दर्शन' के प्रकाशन मे लाडनूं-निवासी श्री मालचन्दजी भूतोड़िया द्वारा अपने पितामह श्री मोहनलाल भूतोड़िया की स्मृति में आर्थिक सहयोग।

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

प्रथम संस्करण की भूमिका

लगभग सोलह वर्ष पहले की बात है मैं गोचरी करके आया और प्रथम दर्शन मे ही आचार्यश्री ने पूछा—'क्या तुम लिखोगे ? लिख सकोगे ?' मैंने कहा—'हा ।' मेरी स्वीकारोक्ति मे आत्म-विश्वास और आचार्यश्री के आशीर्वाद का सकेत था । आचार्यश्री कुछ सदिग्ध थे । उन्हे मेरी 'लेखनी' के बारे मे कोई सन्देह नही था, सन्देह था भाषा के बारे मे । उससे पूर्व आचार्यश्री नही जानते थे कि मैंने हिन्दी मे कुछ लिखा है या मैं लिख सकता हू । मैं भी नही जताना चाहता था कि मैंने हिन्दी मे कुछ लिखा है । उस समय तक मैं अधिकाशत सस्कृत मे ही लिखता रहा । मन मे सकोच था कि हिन्दी मे लिखू उसे आचार्यश्री क्या समझेंगे ?

आचार्यश्री ने कहा, 'हीरालाल रसिकदास कापडिया का पत्र आया है । वे अहिंसा के विषय मे एक पुस्तक लिख रहे हैं । उन्होने आचार्य भिक्षु की व्याख्या के अनुसार एक अहिसा विषयक निबन्ध मागा है । हिन्दी मे मागा है । हिन्दी मे लिखना है—लिख लोगे ?' मैंने कहा—'हा ।'

आचार्य भिक्षु को पढने का पहला अवसर था । उनको पढने का अर्थ था अहिंसा को पढना । मेरे लिए अहिसा और आचार्य भिक्षु एकार्थक जैसे बन गए । अब हिन्दी मे लिखने का द्वार खुल गया । अहिंसा की गहराई मे पैठने की भावना बल पकडती गई । निमित्त और अवसर मिलते गए । क्रम आगे बढा । 'धर्म और लोक-व्यवहार,' 'उन्नीसवी सदी का नया आविष्कार,' 'वस्तु-दर्शन,' 'दयादान,' 'अहिंसा और उसके विचारक,' 'अहिंसा की सही समझ' आदि पुस्तकें और निबन्ध लिखे गए ।

दो दशक भी पूरे नही हुए हैं । जन-साधारण के लिए तेरापथ और आचार्य भिक्षु अज्ञेय थे । जो कुछ ज्ञेय था वह भी भ्रमपूर्ण । आचार्यश्री तुलसी इस स्थिति को बदलने मे सलग्न थे । वे आचार्य भिक्षु के दृष्टिकोण को युग की भाव-भाषा में प्रस्तुत कर रहे थे । आचार्यश्री की वाणी मे नए तर्क थे, नवीन पद्धति थी और स्पष्टोक्ति का नया प्रकार था । प्रतिपादनकी इस पद्धति ने दूसरे लोगो को विस्मय मे डाल दिया । वे अश्रुत को सुन रहे हो, वैसा मान रहे थे । कुछ तेरापथी भी

अपने को सम्हाल नही सके। इस स्थिति मे यह अपेक्षा हुई कि एक दोहरा उपक्रम किया जाए—जो तेरापथ के अनुयायी नही हैं उनके लिए जैनागम सूत्रो के व अन्यान्य विचारको के माध्यम से आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाए और जो तेरापथी है उनके लिए आचार्य भिक्षु की वाणी प्रस्तुत की जाए। इस भित्ति पर 'अहिंसा तत्त्व दर्शन' के दो खण्ड बन गए। अहिंसा कोरा विचार नही है। मूलत वह आचार है। आचार के साथ उतना न्याय नही होता जितना विचार के साथ होता है। विचार से अधिक यदि आचार न हो तो कम-से-कम इतना अवश्य हो कि विचार से कम आचार न हो। तीसरा खण्ड आचार-पक्ष से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से यह पुस्तक अपने आप मे पूर्ण है। पूर्ण का अर्थ यह नहीं कि अपूर्ण नहीं है। अहिंसा जैसे विषय को शब्दो की पूर्णता कब कैसे प्राप्त हो सकती है ? इस ग्रन्थ मे ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करना अपेक्षित था पर इसका निर्माण अकल्पित ही हुआ। आचार्यश्री ने एक निबन्ध लिखने को कहा था, निबन्ध कुछ बडा हो गया। सहज ही कल्पना आगे बढी और एक ग्रन्थ बन गया। छह वर्ष पहले ही यह सम्पन्न हो गया था। दूसरे-दूसरे कार्यों मे व्यस्त रहा, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करने की इच्छा को अभी भी मैं अपने मे सजोए हुए हू।

आचार्यश्री की प्रेरणाओ के प्रति मन मे जो कृतज्ञता का भाव है, वह शब्दो की पकड से परे है।

अहिंसा का समुद्र महान् है। उसमे मिल यह ग्रन्थ-बिन्दु भी अपने आपको अमित पाएगा।

२०१७ श्रावण शुक्ला १३
बाल-निकेतन, राजसमद
उदयपुर (मेवाड)

—मुनि नथमल

द्वितीय संस्करण

'अहिंसा तत्त्व दर्शन' का द्वितीय सस्करण सचमुच नया सस्करण है। प्रथम सस्करण मे सामग्री का चयन प्रमुख था, गुम्फन गौण। फूलो के चयन मे वह सुषमा नही होती, जो उनके गुम्फन मे होती है। माला मे जो क्रमबद्ध विन्यास होता है, वही इस सस्करण मे किया गया है। विचारो की क्रम-बद्धता और नए गुम्फन के कारण प्रस्तुत सस्करण पाठक को नए ग्रन्थ जैसा ही लगेगा।

—मुनि नथमल

तेरापथ-भवन,
मद्रास-१
१० सितम्बर, १९६८

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

तृतीय खण्ड

प्रथम खण्ड

१

अहिंसा का आदिस्रोत

अहिंसा की स्थापना का पहला दिन सुन्दर अतीत के गर्भ मे है, इसलिए वह हमे ज्ञात नही है। अज्ञात के विषय मे हम या तो कल्पना कर सकते हैं, या अनुमान। कल्पना और अनुमान अपने-अपने सस्कारो के अनुसार चलते है, इसीलिए सारे कल्पनाकार और अनुमाता किसी एक निष्कर्ष पर नही पहुचते।

मेरी कल्पना और अनुमान सर्वथा अभ्रान्त है, यह कहकर तो मैं अपनी अपूर्णता की ही अभिव्यक्ति कर पाऊगा, सचाई का वह आधार प्रस्तुत नही कर सकूंगा जो सबके लिए समान रूप से मान्य हो। इस विषय मे मुझे इतना ही कहना चाहिए कि मेरी कल्पना और अनुमानकी आधार-भूमि सुस्थिर है, प्रकम्पमान नही है।

आज भी अहिंसा की व्याप्ति और स्वीकृति अन्य दर्शनो की अपेक्षा जैनदर्शन मे अधिक है, इसलिए उसका आदिकालीन अस्तित्व जैनदर्शन और धर्म की परम्परा मे खोजना ही अधिक वास्तविक होगा।

सामाजिक अस्तित्व और अहिंसा

सामाजिक अस्तित्व से पहले यौगलिक जीवन की पद्धति प्रचलित थी। पुरुष और स्त्री का सहजीवन था। वे लोग प्राकृतिक सम्पदा के सहारे जीते थे। खाने, रहने और पहनने-ओढने के लिए वृक्षो पर निर्भर थे। यह कहने मे कोई अत्युक्ति नही होगी कि वे वृक्षोपजीवी थे।

आवश्यकताएँ कम थीं, इसलिए प्रवृत्तियां भी कम थी। जनसख्या कम थी, इसलिए उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति भी सरलता से हो जाती थी।

आवश्यकताओ की पूर्ति सहज भाव से हो जाती थी, इसलिए यौगलिक मनुष्यो के सामने संघर्ष की स्थितियां नहीं थी। वे शान्त जीवन जीते थे। क्रोध, अभिमान,

माया और लोभ उपशान्त थे। सग्रह नही था, इसलिए न चोरी थी, न हिंसा और लडाइयाँ। न कोई विधि-विधान था, न शासन और न कोई व्यवस्था। वे मुक्त और स्वावलम्बी जीवन जीते थे।

जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ नया मोड आ गया। अब प्राकृतिक वन-सम्पदा उनकी आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त नही रही। सघर्ष और छीना-झपटी के अकुर पनपने लगे। इस परिस्थिति मे सामाजिक जीवन और व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

प्रारम्भ मे कुलो और कुलकरो की व्यवस्था हुई। कृषि, व्यापार और सुरक्षा के प्रवर्तन के साथ-साथ आवश्यकताएँ और प्रवृत्तियाँ दोनो बढ गई।

जहाँ अनेक आवश्यकता और अनेक प्रवृत्तियाँ होनी है, वहाँ सग्रह-वृत्ति का विकास होता है। सग्रह के परिपार्श्व मे हिंसा, असत्य और चोरी को भी विकसित होने का अवसर मिलता है। सामाजिक प्रवृत्तियो के विकास के साथ-साथ हिंसा आदि भी विकसित हुए। हिंसा आदि के विकास से नवनिर्मित समाज मे अव्यवस्था फैली, उसे कुलकर नही सम्हाल सके। उस परिस्थिति मे राजतत्र का उदय हुआ। दण्ड के द्वारा हिंसा आदि की रोकथाम और व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। यह हिंसा और उसके दमन की आदिम कहानी है।

सामाजिक अस्तित्व और अहिंसा

जिस दिन मनुष्य समाज के रूप मे सगठित रहने लगा, आपसी सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु बनने की आवश्यकना हुई। दूसरे मनुष्य को न मारने, न सताने और कष्ट न देने की वृत्ति बनी। प्रारम्भ मे अपने परिवार के मनुष्यो को न मारने की वृत्ति रही होगी, फिर क्रमश अपने पडोसी को, अपने ग्रामवासी को, अपने राष्ट्रवासी को, होते-होते किसी भी मनुष्य को न मारने की चेतना बन गई। मनुष्य के बाद अपने उपयोगी जानवरो और पक्षियो को भी न मारने की वृत्ति बन गई। अहिंसा की यह भावना सामाजिक जीवन के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई और उसकी उपयोगिता के लिए ही विकसित हुई, इसलिए उसकी मर्यादा बहुत आगे नही बढ सकी। वह समाज की उपयोगिता तक ही सीमित रही।

सामाजिक जीवन, आवश्कताओ का विकास और प्रवृत्तियो का विकास— यह सामाजिक विकास का प्रवाह-क्रम है। इसमें से दो विरोधी धाराएँ विकसित होती हैं। जैसे—

१ हिंसा और अहिंसा,

२ सत्य और असत्य,

३ चौर्य और अचौर्य,

४. स्वार्थ और परार्थ।

यदि हिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन उदित होने से पहले ही अस्त हो जाता और यदि अहिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन गतिशील नही बनता। इस तथ्य की स्वीकृति वास्तविकता की अभिव्यक्ति मात्र होगी कि हिंसा और अहिंसा—ये दोनो तत्त्व सामाजिक अस्तित्व को धारण किए हुए है। ये दोनो भिन्न दिशागामी है, इसलिए इन्हे विरोधी धाराएँ कहा जा सकता है किन्तु दोनो एक लक्ष्य (समाज-विकास)-गामी है, इस स्तर पर इन्हे अविरोधी धाराएँ भी कहा जा सकता है।

आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा

कोई भी विकास एकपक्षीय धारा मे अपना अस्तित्व बनाए नही रख सकता। हर विकास की प्रतिक्रिया होती है और उसके परिणामस्वरूप प्रतिपक्षी तत्त्व का विकास-क्रम प्रारम्भ होता है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान् बनाया। उसे इस सत्य की दृष्टि प्राप्त हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतत्र है। यह जगत् चेतन और अचेतन—इन दो सत्ताओ का सार्सगिक अस्तित्व है। उस दिन सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतत्र के सामने आत्म-तत्र का प्रथम सूत्रपात हुआ। इस सूत्रपात ने अहिंसा आदि का मूल्य-परिवर्तन कर डाला। सामाजिक अस्तित्व के स्तर पर उनका मूल्य सापेक्ष और ससीम था, वह आत्मिक अस्तित्व के स्तर पर निरपेक्ष और नि सीम हो गया। सामाजिक क्षेत्र मे अहिंसा का अर्थ था प्राणातिपात का आशिक निषेध—मनुष्यो तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियो को न मारना। और न मारने का लक्ष्य था, सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण और स्थायित्व।

आत्मिक क्षेत्र मे अहिंसा का अर्थ हुआ प्राणातिपात का सर्वथा निषेध—किसी भी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारनेवाले का अनुमोदन भी नही करना। प्राणातिपात के सर्वथा निषेध का लक्ष्य था मुक्ति यानी परिपूर्ण आत्मोदय।

मुक्ति का दर्शन जैसे-जैसे विकसित हुआ, वैसे-वैसे अहिंसा की मर्यादा भी व्यापक होती चली गई।

व्यापक मर्यादा मे इस भाषा को अव्याप्त माना गया कि प्राणातिपात ही हिंसा है और अप्राणातिपात ही अहिंसा है। वहाँ हिंसा और अहिंसा की परिभाषा की आधार-भित्ति अविरति और विरति बन गई। अविरति—यानी वह मानसिक

ग्रन्थि जो मनुष्य को प्राणातिपात करने मे सक्रिय करती है, जब तक उपशान्त या क्षीण नही होती तब तक हिंसा का बीज उन्मूलित नही होता। इसलिए हिंसा का मूल अविरति है, प्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त हिंसा उस मानसिक ग्रन्थि या अव्यक्त हिंसा के अस्तित्व मे ही सभव है। विरति—हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रन्थि की मुक्ति जब हो जाती है, तब हिंसा का बीज उन्मूलित हो जाता है। अहिंसा का मूल विरति है, अप्राणातिपात उसका परिणाम है, यह व्यक्त अहिंसा हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रन्थि की मुक्ति होने पर ही विकासशील बनती है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व मे अहिसा के अर्थ, उद्‌गम और लक्ष्य मे आमूलचूल परिवर्तन हो गया।

भगवान् ऋषभ और अहिंसा

कर्म-युग के विकास के साथ राजतत्र की स्थापना हुई, तब पहले राजा ऋषभ बने थे। वे कुलकर नाभि के पुत्र थे। उनकी राजधानी थी अयोध्या।

ऋषभ ने प्रजा के निर्वाह और अभ्युदय के लिए प्रवृत्तियो का विकास किया—कृषि, व्यापार और सुरक्षा आदि सामाजिक कर्मों का स्वय सचालन किया। शिल्प, कला और व्यवसाय के प्रवर्तन का उद्देश्य यही था कि जनता की जीविका चले, भली-भाँति निर्वाह हो, जिससे चोरी और छीना-झपटी की आदत पनप रही है, वह निर्मूल हो जाय।

सामाजिक विकास और जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ यदि प्रवृत्तियो का विकास नही हुआ होता तो सभव है खाद्याभाव के कारण समाज असामाजिक तत्त्वो का गढ बन जाता और फिर हिंसक पशुओ की भाँति असामाजिक अवस्था मे चला जाता। किन्तु ऋषभ का कर्तव्य-बोध इतना प्रबल था कि उन्होने नव-निर्मित समाज को उस भयकर परिस्थिति से बचा लिया।

ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से हिमवर्ष का नाम भारतवर्ष हुआ था। जैन-साहित्य के अतिरिक्त पुराण भी इस तथ्य का समर्थन करते है। वैदिक साहित्य मे भी ऋषभ के बारे मे अनेक उल्लेख मिलते है।

ऋषभ उस आदियुग के सूत्रधार है, जिसमे सामाजिक जीवन का शिलान्यास हुआ था और सभवत ऋषभ के हाथो से ही हुआ था। ऋषभ उस आदियुग के सूत्रधार है जिसमे सामाजिक कर्तव्य का श्रीगणेश हुआ था और सभवत: ऋषभ के हाथों से ही हुआ था। ऋषभ उस आदियुग के सूत्रधार हैं जिसमे मुक्ति-साधना का आधार-स्तम्भ खडा किया गया था और उन्ही के हाथो से किया गया था।

इसीलिए ऋषभ किसी समाज, परम्परा और सम्प्रदाय से आबद्ध नही हैं

किन्तु सार्वजनिक हैं। युग के आदि-प्रवर्तक के रूप मे उनकी सर्वत्र प्रतिष्ठा है। श्रमण लोग उन्हे प्रथम तीर्थंकर (धर्म-प्रवर्तक) मानते हैं और वैदिक लोग उन्हें आठवाँ अवतार मानते हैं।

आज के इतिहासकार भारतीय सीमा से परे भी उनकी प्रतिष्ठा का दर्शन करते हैं। प्रो० आर० जी० मार्श ने अलासिया (साइप्रस) से प्राप्त ई० पू० बारहवी शती की रेशेफ मूर्ति पर गवेषणात्मक लेख लिखकर यह प्रमाणित किया है कि रेशेफ भारतीय ऋषभ का ही नाम है।[1] ध्वनिशास्त्रीय दृष्टि से भी इसमे सचाई प्रतीत होती है। रेशेफ और ऋषभ के उच्चारण मे जो अन्तर है, वह मात्र भौगोलिक स्थितिकृत है, वास्तविक नही है।

भगवान् ऋषभ के अहिंसा-सिद्धान्त से समूचा विश्व लाभान्वित हुआ, यह कहने के लिए मुझे कोई आधार प्राप्त नही है पर उससे विश्व का बहुत बडा भाग लाभान्वित हुआ, यह कहना असगत नही है।

ऋषभ ने लम्बे समय तक सामाजिक प्रवृत्तियो का सचालन किया। फिर अन्त मे राज्य का दायित्व भरत के कन्धो पर डाल मुनि बन गए। सामाजिक दायित्व सँभाला तब ऋषभ ने प्रवृत्तियो का विकास किया और जब साधना के लिए आगे बढे तब उस दायित्व से मुक्त हो गए।

अहिसा को पूर्णरूप से स्वीकार करने वालो के दो सघ बने—साधु और साध्वी। उसे यथाशक्ति स्वीकार करने वालो के भी दो सघ बने—श्रावक और श्राविका। इतने प्राचीन काल मे अहिसा के आचरण के लिए सघ की स्थापना का यह पहला वर्णन मिलता है। किन्तु यह प्रागैतिहासिक घटना है। इतिहास के आलोक मे भगवान् पार्श्वनाथ को ही यह श्रेय मिलता है।

प्राणातिपात विरमण और अहिंसा

ऋषभ ने जो साधना अपनायी वह अहिंसा की थी। उन्होने सर्व प्राणातिपात का विरमण किया। यही से अहिंसा का स्रोत बहा। उपदेशलब्ध धर्म का प्रवर्तन हुआ। दूसरो का प्राण नाश करना मनुष्य के हित मे नही है इस भावना ने प्राणातिपात-विरति का सूत्रपात किया। उसका विकास होते-होते वह चतूरूप बन गई।

१-२ पर-प्राण-वध जैसे पाप है, वैसे स्व-प्राण-वध भी पाप है।

३-४. पर के आत्म-गुण का विनाश करना जैसे पाप हैं, वैसे अपने आत्म-गुण

---

१ R. G. Masre—The historic importance of bronze statue of Reshief, discovered in Syprus (Bulletin of the Deccan College Research Institute, Poona, Vol XIV, PP 230-36)

का विनाश करना भी पाप है।

प्राणातिपात विरमण के इस विस्तृत अर्थ को संक्षेप मे रखने की आवश्यकता हुई तब 'अहिंसा' शब्द प्रयोग मे आया। इसका सम्बन्ध केवल प्राण-वध से न होकर असत्-प्रवृत्ति मात्र से होता है। कल्पना की दृष्टि से भी यह सगत लगता है। पहले-पहल जब दूसरो को न मारने की भावना उत्पन्न हुई, तब उसकी अभिव्यक्ति के लिए 'प्राणातिपात विरति' शब्द ही पर्याप्त था। किन्तु अनुभव जैसे आगे बढ़ा, प्राण-वध के बिना भी प्रवृत्तियो मे दोष प्रतीत हुआ, तब एक ऐसे शब्द की आवश्यकता हुई, जो केवल प्राण-वध का अभिव्यजक न होकर सदोष-प्रवृत्ति मात्र (आत्मा की विभाव परिणति मात्र) का व्यजक हो। इसी खोज के फलस्वरूप अहिंसा शब्द प्रयोग मे आया। इस कल्पना को साहित्य का आधार भी मिल जाता है।

१ आचाराग सूत्र मे तीन महाव्रत—अहिंसा, सत्य और बहिद्धादान का उल्लेख मिलता है।[1]

२ स्थानाग, उत्तराध्ययन आदि मे चार याम—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और वहिद्धादान का उल्लेख मिलता है।[2] चातुर्याम का उल्लेख बौद्ध पिटको मे भी हुआ है।[3]

३ पाच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है।[4]

जैन आगमो के अनुसार भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर से पाच महाव्रतात्मक धर्म का निरूपण किया और शेष बाईस तीर्थंकरो ने चातुर्याम धर्म का।

इस त्रिविधि परम्परा के फलित यह हुआ कि धर्म का मौलिक रूप अहिंसा है। सत्य आदि उसका विस्तार है। इसीलिए आचार्यों ने लिखा है—'अवसेसा तस्स रक्खट्ठा'—शेष व्रत अहिंसा की सुरक्षा के लिए हैं। काव्य की भाषा मे 'अहिंसा धान है, सत्य आदि उसकी रक्षा करने वाले बाड़े है।'[5] 'अहिंसा' जल है और सत्य आदि उसकी रक्षा के लिए सेतु हैं।[6] सार यही है कि दूसरे सभी व्रत अहिंसा के ही

---

१ आचारांग ८।१५ जामा तिण्णि उदाहिया।
२ (क) स्थानांग २६६
(ख) उत्तराध्ययन २३।२३ चाउज्जामो उजो धम्मो, जो इमो पच सिक्खियो।
देसिओ वद्धमाणेयं, पासेण य महामुणी॥
३ दीर्घनिकाय चातुर्याम सवर सवुत्ती।
४ उत्तराध्ययन २१।२२ अहिंससच्चं च अतेणग च, ततो य बभ च अपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पच महव्वयाइ, चरिज्ज धम्म जिणदेसिय विऊ॥
५ हारिभद्रीय अष्टक १६।५ अहिंसाशस्यसरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।
६ योगशास्त्र प्रकाश २ अहिंसा पयस पालिभूतान्यन्यव्रतानि यत्

पहलू हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि भी इतिहास के छोर के समीपवर्ती है। ये कृष्ण के चचेरे भाई थे। ये अपने विवाह के निमित्त होने वाली जीव-जन्तुओ की हिंसा को अपने लिए अनिष्ट मान विवाह ठुकरा देते है और मुनि बन जाते हैं। केवलज्ञान पाकर फिर अहिंसा की देशना देते हैं और सघ की स्थापना करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७) के अनुसार घोरआगिरस ऋषि कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे। उन्होने कृष्ण को आत्म-यज्ञ की शिक्षा दी। उस यज्ञ की दक्षिणा है—तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा और सत्य-वचन। इनके आधार पर तथा विशेष रूप से आत्म-यज्ञ, जो अहिंसा का दूसरा नाम है, के आधार पर यह कल्पना होती है कि घोर-आगिरस भगवान् अरिष्टनेमि का ही नाम होगा। घोर शब्द भी जैन मुनियो के आचार और तपस्या का प्रतिरूपक है।

भगवान् अरिष्टनेमि के समय मे अहिंसा धर्म का प्रचार बहुल मात्रा मे हुआ। श्रीकृष्ण सूक्ष्म जीव और वनस्पति जीवो की हिंसा के विचार से चातुर्मास मे राज्य-सभा का आयोजन भी नही करते थे।

भगवान् अरिष्टनेमि से भगवान् ऋषभ सुदूर अतीत मे हुए थे। फिर भी भगवान् ऋषभ से अहिंसा की जो धारा फूटी थी, वह मध्यावधि मे कभी-कभी क्षीण होकर भी सूखी नही थी।

भगवान् पार्श्व

भगवान् पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं। उनका समय भगवान् महावीर के २५० वर्ष पूर्व (ई० पू० आठवी शती) है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व को पुरुषादानीय विशेषण से विशेषित करते थे। यह उनकी लोकप्रियता का सूचक है। ऋषभ के बाद यदि किसी दूसरे अहिंसा-प्रवर्तक की व्यापक प्रतिष्ठा है तो पार्श्व की है। बगाल और उडीसा की आदिवासी जातियो मे भी उनका बहुत समादर रहा है।

अध्यापक धर्मानन्द कौशम्बी भगवान् पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म और सघ के बारे मे लिखते हैं—

पार्श्व का धर्म बिलकुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह, इन चार बातो के त्याग करने का वह उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल मे अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दस आज्ञाएँ सुनाईं, उनमें "हत्या मत करो", इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुनकर मोजेस और उनके

अनुयायी पैलेस्टाइन मे घुसे और वहाँ खून की नदियाँ बहाई। न जाने कितने लोगो को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियो को पकडकर आपस मे बाँट लिया। इन बातो को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाए ? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्वज्ञान था ही नही।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह, इन तीनो नियमो के साथ जकड दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियो के आचरण तक ही थी और जनता के व्यवहार मे जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमो के सम्बन्ध मे सामाजिक एव व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होने सघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो सघ विद्यमान थे, उन सबो मे जैन साधु और साध्वियो का सघ सबसे बडा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणो के बडे-बडे समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जगलो मे तपस्या करने वालो के भी सघ थे। तपस्या का एक अग समझकर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे, पर समाज मे उसका उपदेश नही देते थे। वे लोगो से बहुत कम मिलते-जुलते थे।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ का सघ भगवान् महावीर की सघ-स्थापना के बाद तक चला और क्रमश वह उसी मे सम्मिलित हो गया।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर का अस्तित्व काल ई० पू० पाँचवी-छठी शती है। वे अहिंसा के महान् व्याख्याता और प्रयोक्ता थे। उनके धर्म का सर्वस्व अहिसा था। यद्यपि उस समय के सभी श्रमण और वैदिक तत्र पार्श्व की अहिंसा से यत्किचित् प्रभावित थे, किन्तु उसका सर्वाधिक स्वीकार और विकास महावीर ने किया था।

भगवान् महावीर ने व्रतो को व्यापक बना हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की दिशा दी, फिर भी समाज अहिंसक यानी अहिंसा-प्रधान नही बना। उनके सघ मे वे ही व्यक्ति सम्मिलित हुए, जो मोक्षार्थी थे। इसलिए वह सामुदायिक अहिंसा का प्रयोग आत्म-साधना के स्तर पर ही विकसित हुआ, किन्तु उसका असर जीवन की सब दिशाओ मे और सब पर हुआ। निवृत्ति-धर्म भी उपयुक्त मात्रा मे समाज-मान्य बन गया। इस तथ्य को सामने रखकर ही हम भगवान् महावीर के अहिंसा-

१ भारतीय सस्कृति और अहिंसा, पृ० ४१।

धर्म का मर्म समझ सकते है।

भगवान् महावीर का धर्म-तत्र दो भागो मे विभक्त था

१ .मुनि-धर्म,

२ गृहस्थ-धर्म ।

मुनि-धर्म

(१) अहिंसा—प्राणातिपात की सर्वथा विरति ।

(२) सत्य—मृषावाद की सर्वथा विरति ।

(३) अचौर्य—अदत्तादान की सर्वथा विरति ।

(४) ब्रह्मचर्य—मैथुन की सर्वथा विरति ।

(५) अपरिग्रह—परिग्रह की सर्वथा विरति ।

गृहस्थ-धर्म

(१) अहिंसा-अणुव्रत—प्राणातिपात की मर्यादित विरति ।

(२) सत्य-अणुव्रत—मृषावाद की मर्यादित विरति ।

(३) अचौर्य-अणुव्रत—चोरी की मर्यादित विरति ।

(४) स्वदार सतोष—अब्रह्मचर्य का नियमन ।

(५) इच्छा-परिमाण—सग्रह की मर्यादा ।

भगवान् महावीर ने गृहस्थ-धर्म को नैतिकता की भित्ति पर अवस्थित किया था। व्रतो के अतिचारो का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के नैतिक निर्देश ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् हैं। उन्होने गृहस्थ-धर्म की पृष्ठभूमि मे जो नैतिक निर्देश दिए, उनकी तालिका निम्न प्रकार है।

अहिंसा के सदर्भ में नैतिक निर्देश

धार्मिक गृहस्थ निम्न निर्दिष्ट आचरण न करे

(१) बन्ध—अपने आश्रित पशुओ तथा मनुष्यो को बन्धन मे डालना ।

(२) वध—अपने आश्रित पशुओ तथा मनुष्यो को पीटना ।

(३) छविच्छेद—अपने आश्रित पशुओं तथा मनुष्यो के हाथ-पैर आदि अगो को काटना ।

(४) अतिभार—पशुओं पर अधिक बोझ लादना, नौकरों से अतिकाम लेना।

(५) भक्तपान-विच्छेद—अपने आश्रित पशुओं को समय पर भोजन-पानी न देना, आश्रित मनुष्यो को समय पर भोजन-पानी या

आजीविका न देना।

सत्य के सदर्भ में नैतिक निर्देश

धार्मिक गृहस्थ निम्न निर्दिष्ट आचरण न करे

(क) कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध मे झूठी बात कहना।

(ख) गवालीक—पशु-विक्रय के सम्न्ध मे झूठ बोलना।

(ग) भूम्यलीक—भूमि के सम्बन्ध मे झूठ बोलना।

(घ) स्थापन मृषा—धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के सम्बन्ध मे झूठ बोलना।

(च) कूटसाक्षी—झूठी साक्षी देना।

(१) सहसाभ्याख्यान—झूठा आरोप लगाना।

(२) रहस्याभ्याख्यान—रहस्यपूण बात का उद्‌घाटन कर आरोप लगाना।

(३) स्वदार-मत्र-भेद—अपने प्रियजनो के रहस्य का प्रकाशन करना।

(४) मिथ्योपदेश—झूठी बातें समझाना।

(५) कूटलेखक्रिया—झूठी लिखा-पढी करना, खोटा सिक्का चलाना।

अचौर्य के सम्बन्ध मे नैतिक निर्देश

धार्मिक गृहस्थ निम्न निर्दिष्ट आचरण न करे

(१) स्तेनाहृत—चोरी की वस्तु खरीदना।

(२) तस्कर-प्रयोग—चोरी कराने का धधा करना।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम—आयात-निर्यात सम्बन्धी राजकीय नियमो का अतिक्रमण करना।

(४) कूटतुला-कूटमान—तौल-माप मे अप्रामाणिकता बरतना।

(५) तत्प्रतिरूपकव्यवहार—असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु देना, मिलावट करना।

ब्रह्मचर्य के सदर्भ में नैतिक निर्देश

धार्मिक गृहस्थ निम्न निर्दिष्ट आचरण न करे .

(१) इत्वरिकपरिगृहीतागमन—अल्पकाल के लिए गृहीत स्त्री के साथ सहवास करना।

(२) अपरिगृहीतागमन—वेश्या या पर-स्त्री के साथ सहवास करना।

(३) अनगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन करना।

अपरिग्रह के सदर्भ में नैतिक निर्देश

धार्मिक गृहस्थ निम्न निर्दिष्ट आचरण न करे :

(१) भूमि की मर्यादा का अतिक्रमण करना।

(२) सोने-चाँदी की मर्यादा का अतिक्रमण करना।

(३) धान्य की मर्यादा का अतिक्रमण करना।

शेष व्रतों के अतिचारो मे भी कुछ नैतिक निर्देश प्राप्त होते हैं। ऊची, नीची और तिरछी दिशा मे जाने की मर्यादा का अतिक्रमण करना दिग्व्रत के अतिचार हैं। भोगवादी, विस्तारवादी व निरकुश साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के नियत्रण के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हिंसक प्रदान—दूसरो को शस्त्रास्त्र देना। सयुक्ता-धिकरण—बिना प्रयोजन शस्त्रास्त्रो को जोडकर रखना—ये अनर्थ-दण्ड के अति-चार है।

शेष व्रतो मे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

तीन गुणव्रत

१ अनर्थ-दण्ड—विरमण।

२ दिग्व्रत—मर्यादित दिशा से आगे जाकर हिंसादि करने की विरति।

३ उपभोग—परिभोग-परिमाण।

चार शिक्षाव्रत

१ सामायिक—एक मुहूर्त तक सावद्य प्रवृत्ति की विरति—आत्मोपासना।

२ देसावकासिक—हिंसा आदि की अमुक समय तक विशिष्ट विरति।

३ पौषधोपवास—एक दिन-रात तक सावद्य प्रवृत्ति की विरति।

४ अतिथि-सविभाग—सयमी को निर्दोष भिक्षा-दान।

यह आगार सामायिक धर्म है।

महाव्रतो मे सर्व हिंसा की विरति है, इसलिए उनमे अहिंसा का व्यापक रूप हो, इसमें विशेष बात नहीं। गृहस्थ के व्रतो मे हिंसा की सर्वथा विरति नही है और यह हो भी नही सकती। फिर भी उनमे अहिंसा का जीवनव्यापी प्रयोग दिखाया गया है, खान-पान, रहन-सहन, भोग-उपभोग आदि प्रत्येक प्रवृत्ति मे हिंसा को नियंत्रित करने की दिशा दी गई है।

आगार सामायिक धर्म को पालने वाले गृहस्थ का जीवन अल्प-हिंसा और

अल्प-परिग्रह वाला रह जाता है। गृहस्थ-जीवन सर्वथा अहिंसा और अपरिग्रह वाला तो नही हो सकता। शेष विकल्प दो रहते है

१ महाहिंसा और महापरिग्रह वाला जीवन। अथवा

२ अल्पहिंसा और अल्पपरिग्रह वाला जीवन।

महा-हिंसा और महा-परिग्रहात्मक जीवन वाला व्यक्ति धर्म को नही पा सकता। इसलिए वैसा जीवन धर्म के लिए अयोग्य है। गृहस्थ का वही जीवन श्रेष्ठ है जिसमे हिंसा और परिग्रह का अल्पीकरण हो। इस भावना को दो प्रकार से रखा जाता है

पहला प्रकार—कम-से-कम हिंसा ही सर्वोच्च जीवन है। इस प्रसग मे काका कालेलकर की एक घटना उल्लेखनीय है। उन्होने लिखा है—"एक समय मे फ्रेंच लेखक पाल रिशार के साथ उसका 'स्कर्ज ऑफ क्राइस्ट' पढ रहा था। उसमे उसने बाइबिल के अनेक वाक्य और कुछ घटनाएँ लेकर अनेक शब्दो और अर्थ की क्रीडा करके अपना तत्त्वज्ञान मोहक ढग से रखा है। यह लेखक विद्वान् तथा चतुर है, इसलिए वह हरएक बात मे चमत्कृति ला सकता है। पढते-पढते एक ऐसा वाक्य आया कि Living is Killing जीने का मतलब है—मारना। मैंने तुरन्त ही उसे कहा— This is half the truth because it is a mere statement of a universal fact The fact of life is not to give you the universal law of life You must therefore here add 'Killing the least is living the best' यह तो अर्द्ध सत्य हुआ क्योकि एक सार्वत्रिक सिद्धान्त का यह केवल एक विधान है। जीवन के सिद्धान्त मात्र से जीवन का सार्वत्रिक धर्म निकाला नही जा सकता। इसलिए आपको यहाँ इतना बढा देना चाहिए कि कम-से-कम मारना ही उत्तम से उत्तम जीना है। पाल महाशय ने यह सुधार तुरन्त स्वीकार कर लिया और उसका फ्रेंच करके अपनी पुस्तक मे लिख लिया।

—जीना यानी मारना, यह प्राकृतिक नियम है, लेकिन वह मानव-जीवन का धर्म नही हो सकता। जीवन-धर्म कहता है कि 'कम से कम मारना' यह उत्तम से उत्तम प्रकार से जीने के बराबर है। न मारने की ओर, सबको बचाने की ओर, सबको अभय-दान देने की ओर हृदय को उत्कटता से मोड़ना जीवन का रहस्य है।'[1]

दूसरा प्रकार—हिंसा की अधिक से अधिक विरति ही श्रेष्ठ जीवन है अथवा हिंसा की अधिक से अधिक कमी ही श्रेष्ठ जीवन है। दोनो भावनाए समान हैं। भेद है—शब्द-रचना का। हिंसा कम-से-कम हो—इसमें हिंसा की कमी की भावना होते हुए भी शब्द-रचना हिंसा के अनुमोदन की है। अनिवार्य हिंसा को जीवन की

१. जैन भारती, अक ४४, पृ० ८६६।

अशक्यता मानना वस्तुस्थिति है किन्तु अहिंसा के अनुरूप शब्द-रचना नही हो सकती है, जिसमे उसका समर्थन हो।

हिंसा की जो कमी है, वह जीवन की श्रेष्ठता है। हिंसा थोडी मात्रा मे भी जो होती है, वह जीवन की श्रेष्ठता नही है। तात्पर्य यह है कि हिंसा का अल्पीकरण श्रेष्ठ है, अल्प-हिंसा श्रेष्ठ नहीं। वह जीवन की अशक्यता है किन्तु उसका धर्म नही।

भगवान् महावीर ने व्रतो को व्यापक बना हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की दिशा दी, फिर भी समाज अहिसक यानी अहिसा-प्रधान नही बना। उनके संघ मे वे ही व्यक्ति सम्मिलित हुए, जो मोक्षार्थी थे। इसलिए वह सामुदायिक अहिंसा का प्रयोग आत्म-साधना के स्तर पर ही विकसित हुआ किन्तु उसका असर जीवन की सब दिशाओ मे और सब पर हुआ। निवृत्ति-धर्म भी उपयुक्त मात्रा मे समाज-मान्य बन गया। इस तथ्य को सामने रखकर ही हम भगवान् महावीर के अहिंसा-धर्म का मर्म समझ मकते है।

२

अहिंसा

वीर पुरुष अहिंसा के राजपथ पर चल पड़े हैं।[1]

जो धर्म मोक्ष के अनुकूल है, उसे अनुधर्म कहते है, वह धर्म अहिंसा है। कष्टो के सहन को भी वीतराग ने धर्म कहा है।[2]

किसी भी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिए—यही ज्ञानियो के ज्ञान-वचनो का सार है। अहिंसा, समता—सब जीवो के प्रति आत्मवत्-भाव—इसे ही शाश्वत धर्म समझो।[3]

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा को भगवान् ने जीवो के लिए कल्याणकारी देखा है। सर्व जीवो के प्रति सयमपर्ण जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है।[4]

अहिंसा का स्वरूप

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव है। पृथ्वी आदि हरेक मे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग-अलग जीव है।[5]

'उपरोक्त स्थावर जीवो के उपरान्त त्रस प्राणी है, जिनमे चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है। ये ही जीवो के छह वर्ग है। इनके सिवा दुनिया मे और जीव नही है।'

---

१ आचारांग १।१।३६ पणया वीरा महावीहिं।

२ सूत्रकृतांग १।२।१।१४ अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो।

३ वही, १।१।४।१० एव खु नाणिणो सार, ज न हिंसई किंचण।
अहिंसा समय चेव एयावन्त वियाणिया॥

४. दशवैकालिक ६।१ अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।

५ सूत्रकृतांग १।११।५

'जगत् मे कई जीव त्रस है और कई जीव स्थावर। एक पर्याय मे होना या दूसरी पर्याय मे होना कर्मों की विचित्रता है। अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते हैं।'

'एक ही जीव, जो एक जन्म मे त्रस होता है, दूसरे जन्म मे स्थावर हो सकता है। त्रस हो या स्थावर, सब जीवो को दुख अप्रिय होता है—यह समझकर मुमुक्षु सब जीवो के प्रति अहिंसा-भाव रखे।'[1]

अहिंसा की मर्यादा

मनसा, वाचा और कर्मणा जो स्वय जीवो की हिसा करता है, दूसरो से करवाता है या जो जीव हिंसा का अनुमोदन करता है वह (प्रतिहिंसा को जगाता हुआ) वैर की वृद्धि करता है।[2]

ऊर्ध्व, अध और तिर्यक्—तीनो लोक मे जो भी त्रस और स्थावर जीव है, उन सबके प्राणातिपात से विरत होना चाहिए। सब जीवो के प्रति वैर की शान्ति को ही निर्वाण कहा है।[3]

मन, वचन और काया—इनमे से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवो की हिसा न हो, ऐसा व्यवहार ही सयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है।[4]

अहिंसा का व्यावहारिक हेतु

सब जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता, इसलिए निर्ग्रन्थ प्राणी-वध का वर्जन करते है।[5]

सभी प्राणियो को अपनी-अपनी आयु प्रिय है, सुख अनुकूल है, दुख प्रतिकूल है। वध सबको अप्रिय है, जीना सबको प्रिय है। सब जीव लम्बे जीने की कामना

१ सूत्रकृतांग, १।१।८

२ वही १।१।१।३ ' सय तिवायए पाण, अदुवन्नेहि घायए।
हणन्त वाणुजाणाइ, वेर वड्ढइ अप्पणो।

३ वही, १।१।१।३ . उड्ढ अहे च तिरियं, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरइ कुज्जा, सति निव्वाणमाहिय।

४ दशवैकालिक ८।३ तेसि अच्छणजोएण, निच्च होयव्वय सिया।
मणसा कायवक्केण, एव हवइ सजए॥

५ वही, ६।१० सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवह घोर, णिग्गथा वज्जयति ण॥

करते हैं। सभी को जीवन प्रिय लगता है।[1]

अहिंसा का नैश्चयिक हेतु

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवो के प्रति दुर्व्यवहार करते हुए पाप-कर्म का उपार्जन करते है।[2]

जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है, वह अपनी आत्मा को दण्ड देने वाला है। वह दूसरे प्राणियो का हनन करके परमार्थत अपनी आत्मा का ही हनन करता है।[3]

आत्मौपम्य-दृष्टि

सुख-दु ख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र मे तुल्य होती है। अहिंसा की भावना को समझने और बलवान् बनाने के लिए यह आत्म-तुला का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया है—'छह जीव-निकाय को अपनी आत्मा के समान समझो।'[4]

'प्राणी-मात्र को आत्म-तुल्य समझो।'[5]

'हे पुरुष ! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही सुख-दु ख का अनुभव करने वाला प्राणी है, जिस पर हुकूमत करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है, जिसे दु ख देने का विचार करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है, जिसे अपने वश मे करने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है, जिसके प्राण लेने की इच्छा करता है, विचार कर वह तेरे-जैसा ही प्राणी है।'

'सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है, न किसी को मारता है और न किसी की घात करता है।'

'जो हिंसा करता है उसका फल पीछे भोगना पडता है। अत किसी भी प्राणी की हिंसा करने की कामना न करे।'

'जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, ककर, ठीकरी आदि से मारे, पीटे, ताडित करे, तर्जन करे, दु ख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दु ख होता

---

१. आचारांग १।२।६३,६४ सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो जीविउकामा। सव्वेसि जीविय पियं।

२ सूत्रकृतांग १।२।६३,६४

३ वही, १।७।६

४ दशवैकालिक १०।५ अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाये।

५. सूत्रकृतांग १।१०।३ आय तुले पयासु

है। जैसे—मृत्यु से लेकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्वो को होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव व सत्व को नही मारना चाहिए, उस पर हुकूमत नही करनी चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।'[1]

आत्म-तुला के सिद्धान्त को प्रधान नही मानते, उन्हें समझाने के लिए भगवान् महावीर ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

मान लीजिए कि किसी जगह कई प्रावादुक एकत्रित होकर मण्डलाकार बैठे हो, वहा कोई सम्यग्दृष्टि पुरुष अग्नि के अगारो से भरी हुई एक पात्री को सडासी से पकडकर लाए और कहे कि 'हे प्रावादुको! आप लोग अगार से भरी हुई इस पात्री को अपने-अपने हाथो मे थोडी देर तक रखें। आप सडासी की सहायता न लें तथा एक-दूसरे की सहायता न करें।' यह सुनकर वे प्रावादुक उस पात्री को हाथ मे लेने के लिए हाथ फैलाकर भी उसे अगारो से पूर्ण देखकर हाथ जल जाने के भय से अवश्य ही अपने हाथो को हटा लेगे। उस समय वह सम्यग्दृष्टि उनसे पूछे कि 'आप लोग अपने हाथो को क्यो हटा रहे हैं?' तो वे यही उत्तर देंगे कि हाथ जल जाने के भय से हम हाथ हटा रहे है। फिर सम्यग्दृष्टि उनसे पूछे कि 'हाथ जल जाने से क्या होगा?' वे उत्तर देगे कि दुःख होगा। उस समय सम्यग्दृष्टि उनसे यह कहे कि जैसे आप दुःख से भय करते है, इसी तरह सभी प्राणी दुःख से डरते है। जैसे आपको दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है, इसी तरह दूसरे प्राणियों को भी दुःख अप्रिय और सुख प्रिय है। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट नही देना चाहिए।[2]

अहिंसा के दो रूप

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ—हिंसा न करना। न+हिंसा—इन दो शब्दो से अहिंसा शब्द बना है। इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एव विध्यात्मक—दोनो हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है। सत्-प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय, अध्यात्म-सेवा, उपदेश, ज्ञान-चर्चा आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विध्यात्मक अहिंसा है। सयमी के द्वारा अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा है यानी हिंसा नही है। निषेधात्मक अहिंसा मे केवल हिंसा का वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसा मे सत्-क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय

१. आचारांग १।५।१०१-१०२
२ सूत्रकृतांग २।२।४१

है। गहराई मे पहुचने पर बात कुछ और है। निषेध मे प्रवृत्ति और प्रवृत्ति मे निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा मे सत्-प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा मे हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियो को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा नही होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा मे सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आन्तरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्-प्रवृत्त्यात्मक अहिंसा मे हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नही हो सकती, यह निश्चय-दृष्टि की बात है। व्यवहार मे निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

प्रो० तान-युन शान ने अहिंसा के दो रूपो की चर्चा करते हुए लिखा है—'अहिंसा भारतीय एव चीनी सस्कृति का सामान्यतया प्रमुख अग है। भारत मे निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या प्रचलित है और चीन मे विधि रूप।' गाधीजी ने भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था—'इस देह मे जीवन-धारण करने मे कुछ न कुछ हिंसा होती है। अत श्रेष्ठ धर्म की परिभाषा मे हिंसा न करना रूप निषेधात्मक अहिंसा की व्याख्या की गई है।'[१]

आत्म-तुला के मर्म को समझे बिना हिंसा-वृत्ति नही छूटती। इसीलिए अहिंसा मे मैत्री-रूप विधि और अमैत्री-त्याग रूप निषेध दोनो समाए हुए हैं।

सब जीवो को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुचाओ—इन शब्दो मे अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त—विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक मे एकता का सदेश है—'सब मे अपने आपको देखो।' निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है—'किसी को भी हानि मत पहुचाओ।' सब मे अपने आपको देखने का अर्थ है सबको हानि पहुचाने से बचना। यह हानि-रहितता सबमे एक की कल्पना से विकसित होती है।[२]

नकारात्मक अहिंसा

स्थानाग-सूत्र मे सयम की परिभाषा बताते हुए लिखा है—सुख का व्यपरोपण या वियोग न करना और दुख का सयोग न करना—सयम है।[३] यह निवृत्ति-रूप अहिंसा है।

आचाराग-सूत्र मे धर्म की परिभाषा बताते हुए लिखा है—सब प्राणियो को

---

१ अमृतबाजार पत्रिका, पृ० १८, दिनाक ३१ अक्टूबर, १९४४।
२ हिन्दुस्तान, दिनाक २८ मार्च, १९५३ पृ ४० भगवान् महावीर—उनका जीवन और सदेश।
३ स्थानाग ४।४

मत मारो, उन पर अनुशासन मत करो, उनको अधीन मत करो, दास-दासी की तरह पराधीन बनाकर मत रखो, परिताप मत दो, प्राण-वियोग मत करो। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ तीर्थंकरो ने इसका उपदेश किया है।[1] यह भी निवृत्ति-रूप अहिंसा है।

गणधर गौतम ने भगवान् से पूछा—भगवन्! जीवो के सात-वेदनीय कर्म का बन्ध कैसे होता है?

भगवान् ने कहा—प्राण, भूत, जीव और सत्व की अनुकम्पा करने से, दु ख न देने से, शोक नही उपजाने से, खेद उत्पन्न नही करने से, वेदना न देने से, न मारने से, परिताप न देने से जीव सात वेदनीय कर्म का बन्ध करते है।[2]

अनुकम्पा से यानी सन्ताप आदि न देने से सुख-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। यही तत्त्व इसके पूर्ववर्ती पाठ मे मिलता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीवो के अकर्कश वेदनीय कर्म कैसे बँधते है?

भगवान् ने कहा—प्राणातिपात-विरति यावत् परिग्रह की विरति से, क्रोधत्याग यावत् मिथ्यादर्शनशल्य के त्याग से जीव अकर्कश वेदनीय कर्म का बध करते हैं।[3]

भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति रूप अहिंसा का भी विधान किया है, किन्तु सब प्रवृत्ति अहिंसा नही होती। चारित्र मे जो प्रवृत्ति है, वही अहिंसा है। अहिंसा के क्षेत्र मे आत्मलक्षी प्रवृत्ति का विधान है और ससारलक्षी या पर-पदार्थ-लक्षी प्रवृत्ति का निषेध। ये दोनो क्रमश विधि-रूप अहिंसा और निषेधरूप अहिंसा बनते है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—समिति—सत्-व्यापार, यह प्रवृत्ति-धर्म है और गुप्ति—असत्-व्यापार का नियत्रण, यह निवृत्ति धर्म है।[4]

'सर्व प्राणियो के साथ मैत्री रखो'[5]—यह भी प्रवृत्ति रूप अहिंसा का विधान करता है।

वस्तु-तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझकर पीडित नही करते। वे समझते है—जैसे कोई दुष्ट पुरुष मुझे मारता है, गाली देता है, बलात्कार से दास-दासी बना अपनी आज्ञा का पालन कराता है, तब मैं जैसा दु ख अनुभव करता हू, वैसे ही दूसरे प्राणी भी मारने-पीटने, गाली देने, बलात्कार से दास-दासी बना आज्ञा-पालन करने से दु ख अनुभव करते होगे। इसलिए किसी भी

---

१ आचारांग १।४।१,२ सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा न परिघेतव्वा, न परितावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे, नियए, सासए

२ भगवती ७।६

३. भगवती ७।६

४ उत्तराध्ययन २४।२६

५ उत्तराध्ययन ६।२ मेत्ति भएसु कप्पए।

प्राणी को मारना, कष्ट देना, बलात् आज्ञा मनवाना उचित नही ।[१]

अहिंसा आत्म-सयम का मार्ग

इस प्रकार आत्मार्थी आत्मा का कल्याण करने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, आत्मा की शुभ प्रवृत्ति करने वाला, सयम के आचरण मे पराक्रम प्रकट करने वाला, आत्मा को ससाराग्नि से बचाने वाला, आत्मा पर दया करने वाला, आत्मा का उद्धार करने वाला साधु अपनी आत्मा को सब पापो से निवृत्त करे ।[२]

अहिंसा अपनी-अपनी दृष्टि मे

अहिंसा की परिभाषाए विभिन्न विचारको द्वारा विभिन्न भाषाओ मे की गई है, तब भी उनका तत्त्व एक है ।

भगवान् महावीर ने कहा है

'अहिंसा निउण दिट्ठा सव्वभूएसु सजमो ।'

—प्राणी मात्र के प्रति जो सयम है, वही (पूर्ण) अहिंसा है ।

सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त मे महात्मा बुद्ध ने कहा है—

पाणे न हाने न च घातयेय,
न चानुमन्या हनत परेस ।
सब्वेसु भूतेसु निधाय दड,
ये थावरा ये च तसति लोके ।।

—त्रस या स्थावर जीवो को न मारे, न मरावे और न मारने वाले का अनुमोदन करे ।

आयुर्वेद मे कहा है

'विश्वस्याह मित्रस्य चक्षुषा पश्यामि'

—मै समूचे ससार को मित्र की दृष्टि से देखू ।

'तत्र अहिंसा सर्वदा सर्वभूतेष्वनभिद्रोह '

—पातजल योग के भाष्यकार ने बताया है कि सर्व प्रकार से, सर्वकाल मे, सर्व प्राणियो के साथ अभिद्रोह न करना, उसका नाम अहिंसा है ।

'गीता मे अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है

सम पश्यन् हि सर्वत्र, समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिस्त्यात्मनात्मान, ततो याति परां गतिम् ।।

—ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र समान रूप से व्यापक हुआ देखकर—अपना

१· सूत्रकृतांग २।१।१५
२ वही, २।२।४२

हुआ देखकर हिंसा की प्रवृत्ति नही करता, क्योंकि वह जानता है कि हिंसा करना खुद अपनी ही घात करने के बराबर है और इस प्रकार हृदय के शुद्ध और पूर्णरूप से विकसित होने पर वह उत्तम गति को प्राप्त होता है, यानी उसे इस विश्व के वृहत्तम तत्त्व ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजनन प्रोक्ता, अहिंसा परमर्षिभि.।।

—मन, बचन तथा कर्म से सर्वदा किसी भी प्राणी को किसी भी तरह का कष्ट नही पहुचाना—इसी को महर्षियो ने अहिंसा कहा है।

महात्माजी ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है

'अहिसा के माने सूक्ष्म जन्तुओ से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो के प्रति समभाव।'[1]

पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीवधारियो के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियो, यहा तक कि विषधर कीडो और हिंसक जानवरो को भी आलिंगन करती है।[2]

अहिंसा की समस्या

अहिंसा के पुराने और नए सभी आचार्यों ने यही बताया है कि कृत, कारित, अनुमोदित—मनसा, वाचा, कर्मणा—प्राणीमात्र को कष्ट न पहुचाना ही अहिंसा है। किसी भी आचार्य ने अपनी परिभाषा मे सूक्ष्म जीवो की हिसा की छूट नहीं दी है और न उनकी हिसा को अहिंसा बताया है।

इस निर्णय के अनन्तर ही जटिल समस्या यह रहती है कि ऐसी अहिंसा को पालता हुआ मानव जीवित कैसे रह सके ? इसके समाधान मे विभिन्न विचारधाराए चल पड़ी। जैनाचार्यों ने इसका उत्तर यह दिया कि पूर्ण सयम किए बिना कोई भी मानव पूर्ण अहिंसक नही बन सकता। पूर्ण सयमी के सामने मुख्य प्रश्न अहिंसा है, जीवन-निर्वाह का प्रश्न उसके लिए गौण होता है। उसे शरीर से मोह नही होता। शरीर उसे तब तक मान्य है, जब तक कि वह अहिंसा का साधन रहे, अन्यथा उसे शरीरत्याग करने मे कोई भी सकोच नही होता। जैसाकि आचाराग मे बताया है

'इह सति-गया दविया, णाव कखति जीविउ'

—सयमी पुरुष अन्य प्राणियो की हिंसा के द्वारा अपना जीवन चलाना नही

---

१ मगलप्रभात, पृ० ८१।
२. गांधीवाणी, पृ० ३७।

चाहते ।

अपूर्ण सयमी पूर्ण हिंसा से नही बच सकता। अत उसके लिए हिंसा के दो भेद किए गए हैं :

(१) अर्थ-हिंसा।

(२) अनर्थ-हिंसा।

अर्थ-हिंसा यानी जीवन-निर्वाह के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा। गृहस्थ इसको न त्याग सके तो अनर्थ हिंसा को तो अवश्य त्यागे पर यह नही कि अपनी दुर्बलता से हिंसा करनी पडे और उसे अहिंसा या धर्म समझे।

मश्रूवाला ने अहिंसा के विशुद्ध और व्यवहार्य—ये दो भेद कर व्यवहार्य अहिंसा की परिभाषा करते हुए लिखा है

बुराई से रहित और भलाई के अश मे युक्त न्याय्य स्वार्थ-वृत्ति व्यवहार्य अहिंसा है। यह आदर्श या शुद्ध अहिंसा नही है।

लौकिक दृष्टि की प्रधानता से जिस प्रकार जैन तार्किको ने इन्द्रिय-मानस-ज्ञान, जो कि वास्तव मे परोक्ष है, को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना है, वैसे ही उक्त परिभाषा मे लोकप्रियता की रक्षा करते हुए अर्थ-हिंसा को व्यवहार्य अहिंसा का रूप दिया मालूम होता है। क्योकि लोक-दृष्टि मे सब हिंसा या सब स्वार्थ-दृष्टि बुरी नही मानी जाती। समाज जिसको अनैतिक मानता है, वही बुरी मानी जाती है। लोकदृष्टि मे हिंसा अनैतिक और अनैतिक कार्य के रूप मे बदल जाती है। सामाजिक न्याय और औचित्य की सीमा तक ही हिंसा को नैतिक रूप मिलता है तथा अन्याय और अनौचित्य की सीमा मे हिंसा अनैतिक हो जाती है। उदाहरण के रूप मे—एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की हत्या कर रहा है, उस समय वहा एक तीसरा व्यक्ति चला आया। उसने आक्रान्ता को समझाया। आक्रान्ता ने उसकी बात नही मानी, तब वह उस दुर्बल का पक्ष ले आक्रान्ता के सामने आ गया और उसे (आक्रान्ता को) मार डाला। सामाजिक नीति या व्यवस्था के अनुसार दुर्बल को बचाने वाला हिंसक नही माना जाता प्रत्युत उसका वैसा करना कर्तव्य समझा जाता है और दुर्बल की सहायता न करना अनुचित माना जाता है। धार्मिक सीमा इससे भिन्न है। आक्रान्ता को उपदेश देना धर्म को मान्य है। वह उपदेश न माने, उस स्थिति मे उसे मार डालना धार्मिक मर्यादा के अनुकूल नही। उपदेशक का काम है—हिंसक की हिंसा छुडाना न कि हिंसक की हिंसा को मोल लेना—हिंसक के बदले स्वय हिंसा करना।

एक प्राणी की रक्षा के लिए दूसरे प्राणी को मारना या कष्ट पहुचाना अहिंसा की दृष्टि से क्षम्य नही।

भगवान् महावीर ने हिंसा करने के कारणो का उल्लेख करते हुए ब तलाया है कि—'कितनेक व्यक्ति, इसने मुझे पहले मारा था, इसलिए मारते हैं, कितनेक यह मुझे मार रहा है, इसलिए मारते हैं और कितनेक यह मुझे मारेगा इसलिए मारते हैं, यह सब हिंसा है।'

इस प्रकार जितने भी विशुद्ध अहिंसा के विचारक हुए हैं, जिन्होंने दूसरो के द्वारा अहिंसा पालन करवाने की सीमा निरवद्य उपदेश को ही बतलाया।

आत्म-रक्षा

रक्षा का सामान्य अर्थ है बचाना। इससे सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्न चार है —रक्षा किसकी ? किससे ? क्यो ? और कैसे ? प्रत्येक प्रश्न के दो-दो विकल्प बनते है

(१) रक्षा शरीर की या आत्मा की ?

(२) रक्षा कष्ट से या हिंसा से ?

(३) रक्षा जीवन को बनाए रखने के लिए या सयम को बनाए रखने के लिए ?

(४) रक्षा हिंसात्मक पद्धति से या अहिंसात्मक पद्धति से ?

अहिंसात्मक पद्धति द्वारा सयम को बनाए रखने के लिए, हिंसा से आत्मा को बचाने की वृत्ति का नाम है—आत्म-रक्षा।

हिंसात्मक पद्धति द्वारा जीवन को बनाए रखने के लिए कष्ट से बचाव होता है, वह शरीर-रक्षा है।

वास्तव मे शरीर-रक्षा और आत्म-रक्षा—ये दोनो लाक्षणिक शब्द है। इनका तात्पर्यार्थ है—हिंसात्मक प्रवृत्ति द्वारा विपदा से बचने का प्रयत्न करना, शरीर-रक्षा और हिंसा से बचने का प्रयत्न करना आत्म-रक्षा।

साध्य जैसे शुद्ध हो, वैसे साधन भी शुद्ध होना चाहिए। आत्म-रक्षा के लिए साध्य और साधन दोनो अहिंसात्मक होने चाहिए। थोडे मे यू कहा जा सकता है कि आत्म-रक्षा का अर्थ है, राग-द्वेषात्मक आदि असयममय वृत्तियो से बचना। इसका साध्य है—आत्म-मुक्ति। इसके साधन है

१ धार्मिक उपदेश,

२ मौन या उपेक्षा,

३ एकान्त-गमन।

हिंसा करना उचित नही, इस प्रकार हिंसक को समझाना, उसकी हिंसा करने की भावना को बदलने का प्रयत्न करना, धार्मिक उपदेश है।

धार्मिक उपदेश द्वारा प्रेरणा देने पर भी वह न समझे तो मौन हो जाना, उसकी उपेक्षा करना, यह दूसरा साधन है।

धार्मिक उपदेश काम न करे और मौन न रखा जा सके, उस स्थिति मे वहा से हटकर एकान्त मे चले जाना, यह तीसरा है।

भगवान् महावीर ने हिंसा से बचने के लिए ये तीन साधन बताए हैं। ये तीनो अहिंसात्मक हैं, इसलिए आत्म-रक्षा की मर्यादा के अनुकूल है। हिंसात्मक साधनो द्वारा कष्टो से बचाव किया जा सकता है, हिंसा से नही।

हिंसक के प्रति हिंसा बरतना, बल-प्रयोग करना, प्रलोभन देना—यह अहिंसा की मर्यादा मे नही आता। अहिंसा की मर्यादा वह है कि अहिंसक हर स्थिति मे अहिंसक ही रहे। वह किसी भी स्थिति मे हिंसा की बात न सोचे। अहिंसक पद्धति से हिंसा का विरोध करना अहिंसा-धर्मी का कर्तव्य है। वह अहिंसा के लिए अपने प्राणो का त्याग कर सकता है परन्तु अहिंसा के लिए हिंसा का मार्ग नही अपना सकता। दोनो प्रकार की रक्षा के आठ विकल्प बनते है

१ जीवन को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
२ सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
३ जीवन को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।
४ सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।
५ जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
६ सयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।
७ जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।
८ सयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

इनमे पहले चार विकल्प शरीर-रक्षा के है।

विकल्प एक—जीवन को बनाए रखना—यह अहिंसा का उद्देश्य नही है। उसका उद्देश्य है—सयम का विकास करना।

सयम का विकास जीवन-सापेक्ष है। जीवन ही न रहे, तब सयम का विकास कौन करे? अत सयम का विकास करने के लिए जीवन को बनाए रखना आवश्यक है। इस प्रकार जीवन को बनाए रखना भी अहिंसा का उद्देश्य है—यह फलित होता है। यह प्रश्न हो सकता है किन्तु अहिंसा का सीधा सम्बन्ध सयम से है, इसलिए इसे कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। जीवन बना रहे और सयम न हो तो वह अहिंसा नही होती। सयम की सुरक्षा मे जीवन चला जाए तो भी वह अहिंसा है। आगे के सयम के लिए वर्तमान का असयम सयम नही बनता, आगे की अहिंसा

के लिए वर्तमान की हिंसा अहिंसा नही बनती। इसलिए जीवन को बनाए रखना, यह अहिंसा का साध्य या उद्देश्य नही हो सकता।

साधन-मीमासा मे इतना ही बस होगा कि अहिंसा के साधन हिंसात्मक नही हो सकते।

अहिंसा का स्वरूप है, असयम से बचना, सयम करना। कष्ट सयम हो सकता है और सुख असयम, इसलिए कष्ट से बचाव करना और सुख प्राप्त करना यह अहिंसा का स्वरूप नही बन सकता। उपवास व अनशन जैसी कठोर तपस्याएँ कष्टकर अवश्य है, फिर भी अहिंसात्मक हैं। भोगोपभोग सुख है, फिर भी हिंसा है। अहिंसा की दृष्टि सयम की ओर होनी चाहिए। अमुक कष्ट से बचा या नही बचा, अहिंसा के लिए यह शर्त नही होती। उसकी शर्त है—असयम से बचा या नही। पहले विकल्प के तीनो रूप शरीर-रक्षा की कोटि के है।

विकल्प दो—इसमे साध्य सही है। साधन की प्रक्रिया साध्य के प्रति भ्रम उत्पन्न करती है। सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधन करते जाए, वहा सयम नही रहता। इसलिए सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधनो को अपनाना मानसिक भ्रम जैसा लगता है।

विकल्प तीन—जीवन को बनाए रखने का उद्देश्य मुख्य होने पर हिंसा से बचाव करने की बात गौण हो जाती है। सयम जीवन से अलग नही होता। सयम को बनाए रखने के साथ जीवन का अस्तित्व अपने आप आता है। जीवन को बनाए रखने के साथ सयम का अस्तित्व स्वय नही आता है। इसलिए अहिंसा का रूप जीवन के अस्तित्व को प्रधानता नही देता। उसमे सयम की प्रधानता होती है।

विकल्प चार—सयम को बनाए रखने के लिए हिंसा से बचाव करना, यह सही है किन्तु हिंसा से कैसे बचा जाए, इसका विवेक होना चाहिए। हिंसा से बचाव करने के लिए हिंसात्मक साधन अपनाए जाएँ, वहां न सयम बना रहता है और न हिंसा से बचाव होता है। इसलिए चौथा विकल्प भी आत्म-रक्षा की भावना नही देता।

विकल्प पाच—पाचवें विकल्प में साधन-पद्धति को छोड शेष अहिंसा की दृष्टि के अनुकूल नहीं हैं।

विकल्प छह-सात—छठे विकल्प में कष्ट से बचाव करने और सातवें मे जीवन

को बनाए रखने की बात मुख्य होती है, इसलिए ये भी अहिंसा के शुद्ध रूप का निर्माण नही करते। इन दो (६-७) और पाचवें विकल्प को व्यावहारिक या सामाजिक अहिंसा कहा जाता है।

आठवा विकल्प अहिंसा का पूर्ण शुद्ध रूप है।

शस्त्र-विवेक

हत्या के साधन को जैसे शस्त्र कहा जाता है, वैसे हिंसा के साधन को भी शस्त्र कहा गया है। हत्या हिंसा होती है, किन्तु हिंसा हत्या के बिना भी होती है। अविरति या असयम, जो वर्तमान मे हत्या नही किन्तु हत्याकी निवृत्ति नही है, इसलिए वह हिंसा है। हत्या के उपकरणो का नाम है, द्रव्य-शस्त्र और हिंसा के साधन का नाम है भाव-शस्त्र। यह व्यक्ति का वैभाविक गुण या दोप है, इसलिए यह मृत्यु का कारण नही, पाप-बन्ध का कारण है। द्रव्य-शस्त्र व्यक्ति से पृथक् वस्तु है। वह मूलत हत्या का कारण बनता है। वह हत्या का कारण बनता है, इसलिए पाप-बन्ध का कारण भी होता है।

शस्त्र तीन प्रकार के होते है

(१) स्वकाय-शस्त्र,

(२) परकाय-शस्त्र,

(३) उभय-शस्त्र (स्व-काय और पर-काय दोनो का सयोग)

जीव के छ निकाय है

(१) पृथ्वी,

(२) पानी,

(३) अग्नि,

(४) वायु,

(५) वनस्पति,

(६) त्रस।

पृथ्वी द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात—यह स्वकाय-शस्त्र है।

पृथ्वी-अतिरिक्त वस्तु द्वारा पृथ्वी का प्रतिघात—यह परकाय-शस्त्र है।

पृथ्वी और उससे भिन्न वस्तु—दोनो द्वारा पृथ्वी का अपघात—यह उभय-शस्त्र है।

वायु के सिवा सबके लिए यही बात है। वायु का शस्त्र वायु ही है। चलने-फिरने, उठने-बैठने से वायु की हिंसा नहीं होती। चलने-फिरने मे वेग होने पर तेज

वायु पैदा होती है, उससे वायु की हिंसा होती है।

त्रस जीव स्थूल होते है, इसलिए उनकी हिंसा स्पष्ट जान पड़ती है। स्थावर जीव सूक्ष्म होते है, इसलिए उनकी हिंसा सहजतया बुद्धिगम्य नही है। स्थावर जीवो की अवगाहना का एक प्रसग देखिए—

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन् ! पृथ्वीकाय की अवगाहना कितनी है ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! चक्रवर्ती राजा की दासी, जो युवा, बलवती व नीरोग है तथा कला-कौशल मे निपुण है, ऐसी दासी वज्र की कठिन शिला पर वज्र के लोढे से छोटी गेंद जितने पृथ्वी के पिण्ड को एकत्रित कर पीसे, बार-बार पीसने पर भी कितनेक पृथ्वीकाय के जीवो को केवल सिला-लोढे का स्पर्श मात्र होता है, कितनो को स्पर्श तक नही होता, कई जीवो के सघर्ष होता है और कई जीवो को नही, कई एक पीडा का अनुभव करते है, कितनेक मरते है और कितनेक मरते तक नही, कितनेक पिसे जाते है और कितनेक नही पिसे जाते।[1]

स्थावर जीवो को छूने मात्र से कष्ट होता है। शस्त्र-विवेक के बिना अहिंसा की मर्यादा नही समझी जा सकती।

---

१ भगवती १९।३

३

हिंसा

प्राणातिपात पाप है, चण्ड है, रौद्र है, मोह और महाभय का प्रवर्तक है।[१]

हिंसा गाठ है, मोह है, मृत्यु है, नरक है।[२]

हिंसा की परिभाषा

प्रमाद और काम-भोगो मे जो आसक्ति होती है, वही हिंसा है।[३] आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है, इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है— 'असत्य आदि सभी विकार आत्म-परिणति को बिगाड़ने वाले है। इसलिए वे सभी हिंसा है। असत्य आदि जो दोष बतलाए है, वे केवल 'शिष्य बोधाय' है। सक्षेप मे राग-द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा और उनका प्रादुर्भाव हिंसा है। राग-द्वेष-रहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राण-वध हो जाए तो भी नैश्चयिक हिंसा नही होती, राग-द्वेष सहित प्रवृत्ति से प्राण-वध न होने पर भी वह होती है। जो राग-द्वेष की प्रवृत्ति करता है, वह अपनी आत्मा की घात कर ही लेता है, फिर चाहे दूसरे जीवो की घात करे या न करे। हिंसा से विरत न होना भी हिंसा है और हिंसा मे परिणति होना भी हिंसा है। इसलिए जहा राग-द्वेष की प्रवृत्ति है, वहाँ निरन्तर प्राण-वध होता है।'[४]

निश्चय दृष्टि से आत्मा ही अहिंसा है और वही हिंसा। अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है और जो प्रमत्त है, वह हिंसक है।

१ प्रश्नव्याकरण १।२३ एसो सो पाणवहो पावो, चण्डो, रुद्दो—मोहमहब्भयपवहओ।

२ आचारांग १।१।७८ एस खलु गथे एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णारए।

३. वही, १।१।८६

४ पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय-४२ ४८

५ हरिभद्र कृत अष्टक ७, श्लोक ६ की वृत्ति—

आया चेव अहिंसा, आया हिंसेत्ति निच्छओ एस।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥

जीव-वध आत्म-वध है और जीव-दया आत्म-दया। इसलिए आत्मार्थी पुरुष सब जीवो की हिंसा को त्याग देता है।[1]

आत्म-गुण का हनन करने वाला वस्तुत हिंसक होता है और आत्म-गुण की रक्षा करने वाला अहिंसक।

वीतराग या अवीतराग सयमी जो प्रमत्त दशा मे है, उसके द्वारा अपरिहार्य प्राण-वध हो जाए वह प्राण-वध है, किन्तु वास्तव मे हिंसा नहीं।

इन तथ्यो से साफ हो जाता है कि प्राण-वध और हिंसा सर्वथा एक नहीं हैं। इसी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के लिए अहिंसा शब्द व्यवहार मे आया—ऐसा प्रतीत होता है।

अहिंसा शब्द हिसा का निषेध है। हिंसा सदेह-दशा मे होती है और अहिंसा भी उसी मे। विदेह-दशा मे हिसा और अहिंसा की कोई कल्पना ही नही होती। हिंसा बन्धन या सदेह-दशा का हेतु है और अहिंसा मुक्ति या विदेह-दशा का। मुक्ति होने के बाद अहिंसा आत्मा की शुद्धि रूप रह जाती है, साधना रूप नही। फिर उसका कोई कार्य नही रहता। इसलिए उसकी कोई कल्पना भी नही होती। मुक्ति का धर्म है—हिंसा का निषेध। इसीलिए मोक्ष-धर्म का स्वरूप नकार की भाषा मे कहा गया। महात्मा गाधी ने इस पर बड़े सुन्दर ढग से लिखा है—'मानवो मे जीवन-सचार किसी न किसी हिसा से होता है। इसलिए सर्वोपरि धर्म की परिभाषा एक नकारात्मक कार्य अहिंसा से की गई है। यह शब्द सहार की सकडी मे बधा हुआ है। दूसरे शब्दो मे यह है कि शरीर मे जीवन-सचार के लिए हिंसा स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। इसी कारण अहिंसा का पुजारी सदैव प्रार्थना करता है कि उसे शरीर के बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो।'[2]

सदेह जीवन तीन प्रकार का होता है—हिंसा का, हिंसा के अल्पीकरण का और अहिंसा का। हिंसा के जीवन मे हिंसा-अहिंसा का विवेक ही नही होता। हिंसा के अल्पीकरण के जीवन मे हिंसा को कम से कम करने का प्रयत्न किया जाता है। अहिंसा के जीवन मे हिंसा का पूरा त्याग किया जाता है।

हिंसा के प्रकार

हिंसा मात्र से पाप-कर्म का बन्ध होता है, इस दृष्टि से हिंसा का कोई प्रकार नही होता। किन्तु हिंसा के कारण अनेक होते है, इसलिए कारण की दृष्टि से उसके प्रकार भी अनेक हो जाते है। कोई जान-बूझकर हिंसा करता है तो कोई अन-

१. भक्त परिज्ञा प्रकीर्णक-९३
२. महात्मा गांधी के विचार (५-१३८), सी० एफ० एण्ड्रूज।

जान मे भी हिंसा कर डालता है। कोई प्रयोजनवश करता है तो कोई बिना प्रयोजन भी।

'सूत्रकृताग' मे हिंसा के पाँच समादान बतलाए है

१ अर्थ-दण्ड,
२ अनर्थ-दण्ड,
३ हिंसा-दण्ड,
४ अकस्मात्-दण्ड,
५ दृष्टिविपर्यास-दण्ड।

१ अर्थ-दण्ड

जो व्यक्ति अपने लिए, अपनी जाति, परिवार, मित्र, घर, देवता, भूत और यज्ञ आदि के लिए त्रस और स्थावर प्राणियो की स्वय घात करता है, दूसरो से करवाता है, घात करते हुए को अच्छा समझता है, वह अर्थ-दण्ड के द्वारा पाप-कर्म का बध करता है।

२ अनर्थ-दण्ड

कोई व्यक्ति त्रस प्राणियो को अपने शरीर की रक्षा के लिए नही मारता, चमडे के लिए, माँस आदि के लिए भी नही मारता, इसने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, मार रहा है या मारेगा, इसलिए नही मारता, पुत्र-पोषण, पशु-पोषण, घर की सुरक्षा, श्रमण-ब्राह्मण की जीविका के लिए भी नही मारता किन्तु बिना प्रयोजन ही कुतूहल आदि के लिए वह प्राणियो को मारता है, छेदन करता है, भेदन करता है, अगो को काट डालता है, चमडे और नेत्रो को उखाडता है, उपद्रव करता है, वह अनर्थ दण्ड—निरर्थक हिंसा का भागी होता है।

इसी प्रकार बिना प्रयोजन स्थावर जीवो की हिंसा करने वाला, चपलतावश वनस्पतियो को उखाड फेकने वाला, नदी-तालाब आदि जलाशयो के तट पर पर्वत व वन आदि मे बिना मतलब आग लगा देने वाला भी अनर्थ-दण्ड के द्वारा पाप-कर्म का बध करता है।[1]

३ हिंसा-दण्ड

बहुत से व्यक्ति दूसरे प्राणियो को इस आशका से मार डालते हैं कि 'यह जीवित रहकर मुझे मार डालेगा,' 'जैसे कस ने देवकी-पुत्रो को उनके द्वारा

१. सूत्रकृताग २।२।१८

भविष्य मे अपने नाश की शका करके मार डाला था।' बहुत से अपने सबधी के घात के क्रोध से प्राणियो का घात करते हैं, जैसे परशुराम ने अपने पिता के घात से क्रोधित होकर कार्तवीर्य का वध किया था। बहुत से व्यक्ति सिंह, सर्प आदि प्राणियो का वध इसलिए कर डालते हैं कि यह जीवित रहकर दूसरे प्राणियो का वध करेगा। इस प्रकार जो पुरुष किसी त्रस या स्थावर प्राणी की स्वय घात करता है अथवा दूसरो से करवाता है अथवा प्राणीघात करते हुए को अच्छा मानता है, उसको हिसा हेतुक क्रिया से पाप-कर्म का बध होता है।[१]

४ अकस्मात्-दण्ड

किसी प्राणी की घात करने के अभिप्राय से चलाए हुए शस्त्र के द्वारा यदि दूसरे प्राणी का वध हो जाए तो उसे अकस्मात्-दण्ड कहते है। क्योकि घातक व्यक्ति का उस प्राणी की घात का आशय न होने पर भी अचानक उसकी घात हो जाती है। ऐसा देखने मे भी आता है कि मृग का वध कर अपनी जीविका करने वाला व्याध मृग को लक्ष्य कर बाण चलाता है परन्तु वह बाण कभी-कभी लक्ष्य से भ्रष्ट होकर मृग को नही लगता किन्तु दूसरे पक्षी आदि को लग जाता है। इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी उस घातक के द्वारा पक्षी आदि का वध हो जाता है। अत यह अकस्मात्-दण्ड कहलाता है।

किसान जब अपनी खेती का परिशोधन करता है, उस समय धान्य के पौधो की हानि करने वाले तृणो को साफ करने के लिए वह उनके ऊपर शस्त्र चलाता है। परन्तु कभी-कभी उसका शस्त्र घास पर न लगकर धान्य के पौधो पर ही लग जाता है जिससे धान्य के पौधो की घात हो जाती है। किसान का आशय धान्य के पौधो का छेदन करने का नही होता, फिर भी उससे धान्य के पौधो का छेदन हो जाता है। इसे अकस्मात्-दण्ड कहते है। अत मारने की इच्छा न होने पर भी यदि अपने द्वारा चलाए हुए शस्त्र से कोई अन्य प्राणी मर जाए तो अकस्मात्-दण्ड देने का पाप होता है।[२]

५ दृष्टि-विपर्यास-दण्ड

अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टि-विपर्यास-दण्ड कहलाता है। जो पुरुष मित्र को शत्रु के भ्रम से तथा साहूकार को चोर के भ्रम से दण्ड देना

---

१. सूत्रकृतांग २।२।१६
२ वही, २।२।२०

है, उसके दृष्टि-विपर्यास से होने वाली हिंसा के द्वारा पाप कर्म का बन्ध होता है।[1]

हिंसा के निमित्त

सक्षेप मे हिंसा के निमित्त दो है—राग और द्वेष। राग के दो प्रकार है—माया और लोभ। क्रोध और मान—ये द्वेष के प्रकार है।

१ मित्र-दोष-निमित्तक

कई व्यक्ति ऐसे होते है, जो थोडे अपराध मे महान् दण्ड देते है। माता, पिता, भाई, भगिनी, स्त्री, पुत्र वधू तथा कन्या के द्वारा थोडा अपराध होने पर भी उन्हे महान् दण्ड देते है। ठण्डक के दिनो मे वे उन्हे बर्फ के समान ठण्डे जल मे गिरा देते है तथा गर्मी के दिनो मे उनके शरीर पर गर्म जल डालकर कष्ट देते हैं एव अग्नि, गर्म लोहा या गर्म तेल छिडककर उनके शरीर को जला देते है तथा बेंत, रस्सी, छडी आदि से मारकर उनके शरीर की चमडी उधेड देते है। ऐसे व्यक्ति जब घर पर रहते है, तब उनके परिवार वाले दुःखी रहते है और उनके परदेश चले जाने पर वे सुखी रहते हैं। ऐसे पुरुष इस लोक मे अपना तथा दूसरो का अहित करते हैं और मरने के पश्चात् वे परलोक मे अत्यन्त क्रोधी और परोक्ष मे निन्दा करने वाले होते है। यह मित्र-दोष से होने वाली हिंसा का निमित्त है।[2]

२ मान-निमित्तक

जाति कुल, बल, रूप, तप, शास्त्र, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा के मद से मत्त होकर जो व्यक्ति दूसरे प्राणियो को तुच्छ गिनता है तथा अपने को सबसे श्रेष्ठ मानता हुआ दूसरे का तिरस्कार करता है, उसके मान-निमित्तक हिंसा-कर्म का बन्ध होता है।[3]

३ माया-निमित्तक

कई व्यक्ति बाहर से सभ्य और सदाचारी प्रतीत होते है परन्तु छिपकर पाप करते हैं। वे लोगो पर अपना विश्वास जमाकर पीछे से उन्हे ठगते हैं। वे बिलकुल तुच्छ वृत्ति वाले होकर भी अपने को पर्वत के समान महान् समझते हैं। वे माया—कपट-क्रिया करने मे बडे चतुर होते हैं। वे आर्य होते हुए भी दूसरे पर अपना

---

१ सूत्रकृतांग २।२।२१
२ वही, २।२।२६
३ वही, २।२।२५

प्रभाव जमाने के लिए अनार्य-भाषा का व्यवहार करते हैं। कोई-कोई वैयाकरण आदि ऐसे धूर्त होते हैं कि शास्त्रार्थ मे वादी को परास्त करने के लिए तर्क-मार्ग को सामने रख देते हैं तथा अपने अज्ञान को ढकने के लिए व्यर्थ शब्दाडम्बरों से समय का दुरुपयोग करते है। कपट के कार्यों से अपने जीवन को निंदित करने वाले बहुत से मायावी अकार्यों मे रत रहते हैं। जैसे कोई मूर्ख हृदय मे गडे हुए बाण को पीडा से डरकर स्वय न निकाले तथा दूसरे के द्वारा भी न निकलवाए किन्तु उसे छिपाकर व्यर्थ ही दु खी बना रहे, इसी तरह कपटी पुरुष अपने हृदय के कपट को बाहर निकालकर नही फेकता है तथा अपने अकृत्य को निंदा के भय से छिपाता है। वह अपनी आत्मा को साक्षी बनाकर अपने मायाचार की निंदा भी नहीं करता तथा वह अपने गुरु के निकट जाकर उस माया की आलोचना भी नही करता है। अपराध विदित हो जाने पर गुरुजनो के द्वारा निर्देश किए हुए प्रायश्चित्तो का आचरण भी वह नही करता है। इस प्रकार कपटाचरण के द्वारा अपनी समस्त क्रियाओ को छिपाने वाले व्यक्ति की इस लोक मे अत्यन्त निन्दा होती है, उसका विश्वास हट जाता है, वह किसी समय दोष न करने पर भी दोषी माना जाता है, वह मरने के पश्चात् परलोक मे नीच से नीच स्थान मे जाता है। वह बार-बार तिर्यंच तथा नरक योनि मे जन्म लेता है। ऐसा व्यक्ति दूसरे को धोखा देकर लज्जित नही होता अपितु प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा अपने को धन्य मानता है। उसकी चित्तवृत्ति सदा प्रवचना मे लीन रहती है। उसके हृदय मे शुभ-भाव की प्रवृत्ति होती ही नही। उसके माया निमित्तक हिसा कर्म का बन्ध होता है।[1]

४ लोभ-निमित्तक

कई व्यक्ति इस प्रकार कहा करते है कि 'मै मारने योग्य नही किन्तु दूसरे प्राणी मारने योग्य हैं। मैं आज्ञा देने योग्य नही किन्तु दूसरे प्राणी आज्ञा देने योग्य हैं। मैं दास, दासी आदि बनाने के योग्य नही परन्तु दूसरे प्राणी दास, दासी बनाने योग्य हैं। मैं कष्ट देने योग्य नही किन्तु दूसरे प्राणी कष्ट देने योग्य हैं। मैं उपद्रव के योग्य नही परन्तु दूसरे प्राणी उपद्रव के योग्य है'[2]—इस प्रकार उपदेश देने वाले काम-भोग मे आसक्त रहते हैं। वे सदा विषय-भोग की खोज मे लगे रहते है। इस प्रकार उस लोभी व्यक्ति के लोभ-निमित्तक हिंसा-कर्म का बन्ध होता है।[3]

कई व्यक्ति खान-पान के लिए हिंसा करते हैं। वे बिना ही अपराध प्राणियो

---

१. सूत्रकृतांग २।२।२७
२ वही, २।२।२७
३ वही, २।२।२८

को दण्ड देने वाले होते हैं। वे निर्दय जीव अपने और दूसरो के भोजनार्थ शालि, मूग, गेहू आदि अन्नो को पकाकर इन प्राणियो को बिना ही अपराध दण्ड देते हैं। कई निर्दय व्यक्ति तीतर, बटेर तथा बतख आदि पक्षियो को बिना ही अपराध मारते फिरते हैं।

कई व्यक्ति वन्दना, पूजा, मान प्राप्त करने के लिए, जन्म-मरण से छूटने के लिए या दु खो को रोकने के लिए नाना प्रकार से हिंसा करते है।[1]

त्रस जीवो की हिंसा के निमित्त

कई व्यक्ति त्रस जीवो के शरीर के लिए उनका वध करते हैं। कई उनके चमडे के लिए, मास के लिए, लोही के लिए, हृदय के लिए, पीछी के लिए, पूछ के लिए, बाल के लिए, सीग के लिए, दात के लिए, डाढ के लिए, नख के लिए, आख के लिए, हड्डी के लिए, अस्थि-मज्जा के लिए—आदि अनेक प्रयोजनो से त्रस जीवो की हिंसा करते है और कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही त्रस जीवो की हिंसा करते है।[2]

कई रस-लोलुप व्यक्ति मधु के लिए मधुमक्खियो को मारते है, शारीरिक दुविधा मिटाने के लिए खटमल आदि को मारते है, विभूषा बढाने वाले रेशमी वस्त्र बनाने के लिए कीडो की घात करते है। इस प्रकार अज्ञानी जीव अनेक कारणो से त्रस जीवो की हिंसा करते है।[3]

स्थावर जीवो की हिंसा के निमित्त

कृषि (खेती) आदि के लिए, बावडी, कुआँ, सरोवर, तालाब, भित्ति, चिता, वेदिका, आराम, स्तूप, प्रकार, द्वार, गोपुर, अट्टालक, चरिक (आठ हाथ प्रमाण का मार्ग), पुल, प्रासाद, विकल्प, भवन, घर, शयन, लयन, दूकान, प्रतिमा, देवालय, चित्रशाला, प्रपा, आयतन, परिव्राजक का निवास-स्थान, भूमिगृह, मण्डप, घडा आदि बर्तनो के लिए, विविध कारणो से प्रेरित होकर मन्दबुद्धि वाले व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा करते है।[4]

'स्नान करने के लिए, पानी पाने के लिए, भोजन बनाने के लिए, वस्त्र धोने के लिए और शुचि आदि करने के लिए पानी के जीवो की हिंसा करते हैं।[5]

१ सूत्रकृतांग २।२।३५
२, आचारांग १।१।४०
३ प्रश्नव्याकरण १।३
४ वही, १।६
५ वही १।७

'कई व्यक्ति धान्य पकाने के लिए अन्य से पकवाने के लिए, दीपक जलाने और बुझाने के लिए अग्निकाय की हिंसा करते है।'[१]

'अनाज साफ करने के लिए छाज फटककर, पखे से हवा लेकर, बीजने से बीजकर, खुशी आदि प्रकट करने के लिए ताली बजाकर आदि-आदि कारणो से वायुकाय की हिंसा करते है।'[२]

'घर बनाने के लिए, म्यान बनाने के लिए, खाने के लिए, भोजन तैयार करने के लिए, पर्यंक, बाजोट-फलक आदि बनाने के लिए, मूसल-ऊखल बनाने के लिए, तन्त्री तार, वाद्य-यन्त्र, वितत, पडहादि बनाने के लिए, अन्य वाद्य-यन्त्रो के लिए, वाहन, शकट, कण्डप, भक, तोरण, पक्षियो के स्थान, देवालय, जालियो के लिए अर्धचन्द्र, वारशाक, चन्द्रशाला वेदिका, पिढी, नौका, चगेरी, खूटी, सभा, प्रपा, डिब्बे, माला, विलेपन, वस्त्र, रथ, हल, शिविका साग्रामिक, रथ, गाडी, अट्टालक, नगर-द्वार, गोपुर, यत्र, शूलि, लाठी, बन्दूक, शतघ्नी आदि-आदि बनाने के लिए वनस्पति की हिंसा करते है।'[३]

'कई व्यक्ति क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति-अरति, शोक के लिए स्त्री, पुरुष, नपुसक के लिए, जीवितव्य की काक्षा के लिए, धर्म-निमित्त, स्ववश या पर-वशता से, प्रयोजन से या बिना प्रयोजन ही त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करते है।[४]

'कई व्यक्ति अर्थ (धन) के लिए, धर्म के लिए, काम-भोग के लिए अथवा अर्थ, धर्म और काम—तीनो के लिए हिंसा करते हैं।'[५]

अज्ञानवश हिंसा

'अज्ञानवश की हुई हिंसा भी हिंसा होती है। बहुत सारे व्यक्ति हिंसा के स्वरूप और परिणाम को जानते हुए हिंसा करते हैं।'[६]

'जो जीवो के स्वरूप को जानने मे कुशल हैं, वे ही अहिंसा के स्वरूप को जानने मे कुशल है और जो अहिंसा का स्वरूप जानने मे कुशल हैं, वे ही जीवो का स्वरूप जानने मे कुशल हैं।'[७]

१. प्रश्नव्याकरण, १।८
२. वही, १।९
३ वही, १।१०
४ वही, १।११
५ वही, १।१२
६ वही, १।१३
७ आचारांग जे दो हलोगसत्थस्स खेयन्ने, से असत्थस्स खेयन्ने।
जे असत्थस्स खेयन्ने, से दो हलोगसत्थस्स खेयन्ने॥

विषय-भोग मे आसक्त मनुष्य पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस जीवो की हिंसा करते है। उन्हे इस हिंसा का भानतक नही होता। यह उनके लिए हितकर तो है ही नही, परन्तु सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिए बाधक है।

स्थावर जीवो की दशा और वेदना

एकेन्द्रिय जीव अत्राण, अशरण, अनाथ और अबन्धु है, कर्म-शृखला से बँधे हुए है। अकुशल विचार वाले मन्द-बुद्धि व्यक्तियो द्वारा दुर्गम्य हैं।[1] जैसे कोई किसी अन्धे मनुष्य को छेदे-भेदे या मारे-पीटे तो वह उसे न देखते हुए भी दुःख का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वी न देखते हुए भी अपने ऊपर होने वाले शस्त्र-प्रहार के दुःख का अनुभव करती है।[2]

हिंसा सबके लिए समान

सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्यतीर्थिक मुक्त नही होते, वैसे ही सावद्य कर्मसेवी स्वतीर्थिक भी मुक्त नही होते।[3]

हिंसा-विरति का उपदेश

जो आसक्ति के कारण पृथ्वीकाय की हिंसा करते है, उनको अपनी आसक्ति के सामने हिंसा का भान नही रहता। परन्तु पृथ्वी की हिंसा न करने वाले सयमी मनुष्यो को इसका पूरा भान रहता है। बुद्धिमान कभी पृथ्वी की हिंसा न करे, न कराए और न करने की अनुमति दे। जो मुनि अनेक प्रवृत्तियो से होने वाली पृथ्वी की हिंसा को अच्छी तरह जानता है, वही सच्ची कर्मज्ञ है।[4]

इसी प्रकार जल मे अनेक जीव है। जिन प्रवचन मे कहा गया है कि जल जीव ही है, इस कारण उसका उपयोग करना हिंसा है। जल का प्रयोग करते हुए दूसरे जीवो का भी नाश होता है। इसके सिवा, दूसरो के शरीर का उनकी इच्छा-विरुद्ध उपयोग करना चोरी भी तो है। अनेक मनुष्य ऐसा समझकर कि जल हमारे पीने और स्नान करने के लिए है, उसका उपयोग करते हैं और जल के जीवो की हिंसा करते है। यह उनको उचित नही है। जो मुनि जल के उपयोग से होने वाली हिंसा को यथावत् जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है। इसलिए

---

१ प्रश्नव्याकरण १।४

२. आचारांग १।१।२७,२८

३ सूत्रकृतांग २।२।४१

४ आचारांग १।१।२

बुद्धिमान् जल की हिंसा न करे।[1]

इसी प्रकार जो अग्निकाय के जीवो के स्वरूप को जानने मे कुशल हैं, वे ही अहिंसा का स्वरूप जानने मे कुशल हैं। मनुष्य विषय-भोग की आसक्ति के कारण अग्नि तथा दूसरे जीवो की हिंसा करते रहते हैं, क्योकि आग जलाने मे पृथ्वीकाय के, घास-पात के, गोबर-कचरे मे रहने वाले तथा आग के आस-पास उडने-फिरने वाले अनेक जीव जलकर मर जाते है।[2]

इसी प्रकार अनेक मनुष्य आसक्ति के कारण वनस्पति की हिंसा करते हैं। वनस्पति भी जन्मशील और सचित्त है। जैसे—जब कोई व्यक्ति हमे मारे-पीटे तो हम दु खी हो जाते है, वैसे ही वनस्पति भी दु खी होती है। जैसे हम आहार लेते हैं, वैसे ही वह भी। हमारे समान वह भी अनित्य और अशाश्वत है। हम घटते-बढते है, उसी प्रकार वह भी घटती-बढती है। जैसे अपने मे विकार होते है, वैसे ही उसमे भी होते हैं। जो वनस्पति की हिसा करते है, उनको हिंसा का भान नही होता। जो मुनि वनस्पति की हिंसा को जानता है, वही सच्चा कर्मज्ञ है।[3]

अडज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज और औपपातिक—ये सब त्रस जीव है। इनकी हिंसा न करे, न कराए।[4]

इसी प्रकार वायुकाय के जीवो को समझना चाहिए। अनेक व्यक्ति आसक्ति के कारण विविध प्रवृत्तियो द्वारा वायु-काय की तथा उसके साथ ही अनेक जीवो की हिसा करते है। क्योकि दूसरे अनेक उडने वाले जीव झपट मे आ जाते हैं और इस प्रकार आघात, सकोच, परिताप और विनाश को प्राप्त होते है।[5]

हिसा के परिणाम का निर्णय

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि क्षुद्र प्राणी हैं। हाथी, घोडे आदि महाकाय प्राणी है। किन्तु इन सबकी आत्मा समान है—असख्य प्रदेश वाली है। इसलिए इनकी हिंसा से एक सरीखा वैर या कर्म-बन्ध होता है—ऐसा एकात वचन नही बोलना चाहिए। इसी प्रकार इन प्राणियो मे ज्ञान, विकास, इन्द्रिय, शरीर और पुण्य का तारतम्य है। इसीलिए इनको मारने मे वैर या कर्म-बन्ध समान नही होता—ऐसा एकान्त वचन भी नही बोलना चाहिए।[6] कारण यह है—कर्म-बन्ध की न्यूनता और

---

१ आचारांग १।१।३
२. वही, १।१।४
३ वही १।१।५
४ वही, १।१।६
५ वही, १।१।७
६ सूत्रकृतांग २।५।६४

अधिकता का कारण मारे जाने वाले प्राणी की क्षुद्रता और महत्ता नही किन्तु मारने वाले के मन्द-भाव, तीव्र-भाव, अज्ञान-भाव, ज्ञान-भाव आदि-आदि अनेक कारण हैं। इसलिए एकमात्र मारे जाने वाले प्राणी के हिसाब से कर्म-बन्ध के न्यूनाधिक का निर्णय नही किया जा सकता। हिंसा किसी भी स्थिति मे हिंसा है। उससे कर्म-बन्ध होता है—यह निश्चित है।

हिंसा का सूक्ष्म विचार

अप्रत्याख्यानी—पापकर्मों का त्याग न करने वाली आत्मा असयत, अविरत होती है। वह मन, वचन, शरीर और वाक्य के विचार से रहित हो, स्वप्न भी न देखती हो, अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान वाली हो, फिर भी पाप-कर्म करती है।[1]

प्रश्न होता है कि जिस प्राणी के मन, वचन और काय पाप-कर्म मे लगे हुए नही हैं, जो प्राणियो की हिंसा नही करता और जो मन, वचन, काय और वाक्य से रहित है तथा जो स्वप्न भी नही देखता यानी अव्यक्त विज्ञान वाला है, वह प्राणी पाप करने वाला नही माना जा सकता। क्योकि मन, वचन और काया के पापयुक्त होने पर ही मानसिक, वाचिक और कायिक पाप किए जाते है, परन्तु जिन प्राणियो का ज्ञान अव्यक्त है अतएव जो पाप-कर्मों के साधन से हीन है, उनके द्वारा पाप-कर्म किया जाना सम्भव नही।[2]

उत्तर यह है कि जो जीव छह काय के जीवो की हिंसा से विरत नही है किन्तु अवसर, साधन और शक्ति आदि कारणो के अभाव से उनकी हिंसा नही करते, वे उन प्राणियो के अहिंसक नही कहे जा सकते। प्राणातिपात आदि पापोसे जो निवृत्त नही, वह किसी भी अवस्था मे हो, पाप-कर्म करता है।[3]

जो लोग यह कहते है कि 'प्राणियो की हिंसा न करने वाले जो प्राणी मनोविकल और अव्यक्त ज्ञान वाले हैं, उनको पाप कर्म का बन्ध नही होता—यह कहना ठीक नही है। एक वधक किसी कारण से गाथापति अथवा उसके पुत्र या राजा अथवा राजकुमार के ऊपर क्रुद्ध होकर इस खोज मे रहता है कि अवसर मिलने पर मैं इनका वध करूँगा। वह अपनी इच्छा को सफल करने का अवसर नही पाता, तब तक दूसरे कार्य मे लगा हुआ उदासीन-सा बना रहता है। उस समय वह यद्यपि घात नही करता तथापि उसके हृदय मे उनके घात का भाव उस समय भी बना रहता है। वह सदा उनके घात के लिए तत्पर रहता है परन्तु अवसर न मिलने पर

१ सूत्रकृतांग २।४
२ वही, २।४।६४
३ वही, २।४।६४

घात नहीं कर सकता। अत घात न करने पर भी वैसा भाव होने से वह पुरुष सदा उनका घातक ही है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानी एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय प्राणी भी मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों मे अनुगत होने के कारण प्राणातिपात आदि पापो से दूषित ही है, वे उनसे निवृत्त नही हैं। जैसे अवसर न मिलने पर गाथापति आदि का घात न करने वाला पूर्वोक्त पुरुष उनका अवैरी नही किन्तु वैरी ही है, उसी तरह प्राणियो का घात न करने वाले अप्रत्याख्यानी जीव भी प्राणियो के वैरी ही है, अवैरी नही।[1]

जिन प्राणियो का मन राग-द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से ढका हुआ है, वे ही दूसरे प्राणियो के प्रति दूषित भाव रखते है। क्योकि एकमात्र विरति ही भाव को शुद्ध करने वाली है। वह (विरति) जिनमे नही है, वे प्राणी सभी प्राणियो के भाव से वैरी हैं। जिनके घात का अवसर उन्हे मिलता है, उनकी घात उनसे न होने पर भी वे उनके अघातक नही है। इसलिए जिस प्राणी ने पाप का प्रतिघात और प्रत्याख्यान नही किया, वह स्पष्ट विज्ञानहीन भले हो, फिर भी पाप कर्म करता है।[2]

फिर प्रश्न होता है—यू तो सभी प्राणी सभी प्राणियो के शत्रु हो जाते हैं, पर यह जचता नही। कारण कि हिंसा का भाव परिचित व्यक्तियो पर ही होता है, अपरिचित व्यक्तियो पर नही। ससार मे सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अनन्त प्राणी ऐसे है जो देश, काल और स्वभाव से अत्यन्त दूरवर्ती हैं। वे इतने सूक्ष्म और दूर है कि हमारे जैसे अवग्दर्शी पुरुषो ने उन्हे न तो कभी देखा है और न सुना है। वे किसी के न तो वैरी हैं और न मित्र ही। फिर उनके प्रति किसी का हिंसामय भाव होना किस प्रकार सम्भव है? इसलिए सभी प्राणी सभी प्राणियो के प्रति हिंसा के भाव रखते हैं, यह नही माना जा सकता।

उत्तर यह है—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नही किन्तु प्रवृत्त है, उसकी चित्तवृत्ति उसके प्रति सदा हिंसात्मक ही बनी रहती है। इसलिए वह हिंसक ही है, अहिंसक नही। जैसे कोई ग्राम की घात करने वाला व्यक्ति जिस समय ग्राम की घात करने मे प्रवृत्त होता है, उस समय जो प्राणी उस ग्राम को छोडकर किसी दूसरे स्थान मे चले गए है, उनकी घात उसके द्वारा नही होती तो भी वह घातक पुरुष उन प्राणियो का अघातक या उनके प्रति हिंसात्मक चित्तवृत्ति न रखने वाला नहीं है, क्योकि उसकी इच्छा उन प्राणियो के भी घात की है अर्थात् वह उन्हे भी मारना ही चाहता है परन्तु वे उस समय वहा उपस्थित नही हैं, इसलिए वे नही मारे जाते। इसी तरह जो प्राणी देशकाल के दूर के प्राणियों के घात

---

१ सूत्रकृतांग २।४।६४
२ वही, २।४।६४

का त्यागी नही है, वह उनका भी हिसक ही है। उसकी चित्तवृत्ति उनके प्रति हिंसात्मक ही है। इसलिए पहले जो कहा गया है कि अप्रत्याख्यानी प्राणी समस्त प्राणियो के हिंसक है—यह ठीक ही है। इस विषय मे दो उदाहरण और हैं। एक सज्ञी का और एक असज्ञी का। उनका आशय यह है—एक पुरुष एकमात्र पृथ्वी-काय से अपना कार्य करना नियत कर शेष प्राणियो के आरम्भ करने का त्याग कर देता है। वह देश, काल से दूरवर्ती पृथ्वीकाय का भी हिंसक ही है, अहिंसक नही। पूछने पर वह यही कहता है—"मैं पृथ्वीकाय का आरम्भ करता हू, कराता हू और करने वाले का अनुमोदन करता हू।" परन्तु वह यह नही कह सकता कि मैं श्वेत या नील पृथ्वीकाय का आरम्भ करता हू, शेष का नही। क्योकि उसके किसी भी पृथ्वी-विशेष का त्याग नही है, इसलिए आवश्यकता न होने से या दूरी आदि के कारण वह जिस पृथ्वी का आरम्भ नही करता, उसका भी अघातक नही कहा जा सकता एव उस पृथ्वी के प्रति उसकी चित्तवृत्ति हिंसा-रहित नही कही जा सकती। इसी तरह प्राणियो के घात का प्रत्याख्यान नही किए हुए प्राणी को देश-काल से दूरवर्ती प्राणियो का अघातक या उनके प्रति उसकी अहिंसात्मक चित्तवृत्ति नही कही जा सकती। यह सज्ञी का दृष्टान्त है। अब असज्ञी का दृष्टान्त बताया जाता है।

जो जीव ज्ञान-रहित तथा मन से हीन है, वे असज्ञी कहे जाते है। वे जीव सोए हुए, मतवाले तथा मूर्च्छित आदि के समान होते है। पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के प्राणी तथा विकलेन्द्रिय से लेकर सम्मूर्च्छिम पचेन्द्रिय तक के त्रस प्राणी असज्ञी है। इन असज्ञी प्राणियो मे तर्क, सज्ञा, वस्तु की आलोचना करना, पहचान करना, मनन करना और शब्द का उच्चारण करना आदि नही होता तो भी ये प्राणी दूसरे प्राणियो के घात की योग्यता रखते है। यद्यपि इनमे मन, वचन और काया का विशिष्ट व्यापार नही होता, तथापि ये प्राणातिपात आदि अठारह पापो से युक्त हैं, इसलिए ये प्राणियो को दु ख, शोक और पीडा उत्पन्न करने से विरत नहीं हैं, इसलिए इन असज्ञी जीवो के भी पाप-कर्म का बन्ध होता है। इसी प्रकार जो मनुष्य प्रत्याख्यानी नही है, वह चाहे किसी अवस्था मे हो, सबके प्रति दुष्ट आशय होने के कारण उसके पाप-कर्म का बन्ध होता ही है। जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त के सज्ञी औरअसज्ञी जीवो के देश काल से दूरवर्ती प्राणियो के प्रति दुष्ट आशय होने से कर्म-बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रत्याख्यान-रहित प्राणी के देश-काल से दूरवर्ती प्राणियो के प्रति भी दुष्ट-आशय होने से कर्म-बन्ध होता ही है।[1]

हिंसा की सूक्ष्म विचारणा पर क्रिया का सिद्धान्त विकसित हुआ है। कर्म-बन्ध की निमित्तभूत चेष्टा को क्रिया कहते है। वह पाँच प्रकार की है—

१ सूत्रकृतांग २।४।६६

१ कायिकी,
२ आधिकरणिकी,
३ प्राद्वेषिकी,
४ पारितापनिकी,
५. प्राणातिपातिकी।

कायिकी

शरीर से होने वाली असयत प्रवृत्ति को कायिकी क्रिया कहते हैं। वह दो प्रकार की होती है—अनुपरत और दुष्प्रयुक्त। असयम मे प्रवृत्त नही किन्तु निवृत्त भी नही, उस आत्मा की शारीरिक प्रवृत्ति 'अनुपरत कायिकी' कहलाती है। 'दुष्प्रयुक्त कायिकी' शरीर को दुष्प्रवृत्ति के समय होती है। यह सयति मुनि के भी हो सकती है। अविरति की अपेक्षा मुनि हिंसक नही होता। सर्व-पाप-कर्म की विरति करने वाला ही मुनि होता है। उसके प्रमादवश कभी दुष्प्रवृत्ति हो जाती है, वह हिंसा है। जो सर्व-विरति नही होते, वे अविरति की अपेक्षा से भी हिसक होते हैं। हिंसा मे प्रवृत्ति न करते समय प्रवृत्ति की अपेक्षा अहिंसक होते हुए भी अविरति की अपेक्षा अहिसक नही होते।[1]

इसी दृष्टि से सर्व-विरति को पडित और धर्मी, अपूर्ण विरति को बाल-पडित और धर्माधर्मी तथा अविरति को बाल और अधर्मी कहा है।[2]

आधिकरणिकी

हिंसा के साधन—यत्र, शस्त्र-अस्त्र आदि का निर्माण करना और पहले बने हुए यत्र आदि को प्रयोग के लिए तैयार करना क्रमश निर्वर्तनाधिकरणी और सयोजनाधिकरणी क्रिया कहलाती है।

प्राद्वेषिकी

अपने आप पर या दूसरो पर अथवा दोनो पर द्वेष करना।

पारितापनिकी

अपने आपको कष्ट देना, दूसरो को कष्ट देना या दोनो को कष्ट देना।

प्राणातिपातिकी

अपनी घात करना, दूसरो की घात करना अथवा दोनो की घात करना।

इस क्रिया-पचक की अपेक्षा जीव सक्रिय और अक्रिय दोनो प्रकार के होते हैं।

एक जीव दूसरे जीव की अपेक्षा कदाचित् त्रिक्रिय होता है, कदाचित् चतुष्क्रिय

१ भगवती १।१।४८
२. वही, १७।२

और कदाचित् पचक्रिय[1]। तीन क्रिया प्रत्येक अविरत प्राणी मे होती हैं। वह किसी को कष्ट देता है तब चार और प्राणघात करता है, तब पांच क्रियाएँ होती हैं।

क्रिया जैसे वर्तमान जीवन की अपेक्षा से होती है, वैसे अतीत जीवन की अपेक्षा से भी होती है। अतीत शरीर या उसका कोई भाग हिंसा मे व्यापृत होता है, वह शरीर अधिकरण तो है ही। हिंसा सम्बन्धी अकुशल मन का प्रत्याख्यान नही होता, उसका व्यक्त शरीर या शरीर-भाग कष्ट देने मे व्यापृत होता है, उससे प्राण-वियोग होता है—इस प्रकार अतीत शरीर से भी पाच क्रियाएँ होती हैं[2]। अतीत शरीर की क्रिया द्वारा कर्म-बन्ध होता है, वह प्रवृत्ति रूप नही होता। किन्तु वह शरीर उस व्यक्ति के द्वारा व्युत्सृष्ट—त्यक्त नही होता— उसने विरति द्वारा अतीत शरीर से अपना सम्बन्ध नही तोडा, इसलिए अविरति-रूप पाप-कर्म का बध होता है।[3]

जो व्यक्ति अतीत के शरीर और अधिकरण को तीन करण, तीन योग से त्याग देते हैं, वर्तमान शरीर के द्वारा भी इनमें से कोई क्रिया नही करते, वे अक्रिय होते हैं। देह-दशा मे अक्रिय केवल सर्व विरति मुनि ही हो सकते है।[4]

एक व्यक्ति ने बाण फेका। हरिण मरा। बाण फेंकने वाले व्यक्ति को पाँच क्रियाएँ लगी और जिन जीवो के शरीर से बाण बना, उन जीवो को भी पाँच क्रियाएँ लगी।[5]

(१) बाण फेकने वाला पाँच क्रिया से स्पृष्ट हो— यह सही है किन्तु जिन जीवो के व्यक्त शरीर से बाण बना, वे भी पाँच क्रिया से स्पृष्ट हो— यह कैसे हो सकता है? व्यक्त शरीर अचेतन हो जाता है। उसके द्वारा कोई दूसरा व्यक्ति हिंसा करे, तब उस शरीर के निष्पादक जीव को क्रिया क्यो लगे?

(२) और यदि लगे तो मुक्त जीव भी इस दोष से मुक्ति नही पा सकते। उनके त्यक्त शरीर का भी हिंसा मे प्रयोग हो सकता है।

(३) त्यक्त शरीर के दुष्प्रयोग से उनके निष्पादक जीवो के जैसे पाप-कर्म की क्रिया होती है, वैसे ही उनके शरीर धर्मोपकरण के रूप मे धर्म के साधन बनें, तो उनके निष्पादक जीवो के पुण्य-कर्म की क्रिया भी होनी चाहिए।

इनका समाधान इस प्रकार है—

---

१ प्रज्ञापना पद, २२
२ वही, पद २२ वृत्ति
३ वही, पद २२ वृत्ति
४ वही, पद २२ वृत्ति
५ भगवती ५।६।१०

(१) बध अविरति के परिणाम से होता है। अविरति का परिणाम जैसे बाण फेकने वाले व्यक्ति के होता है, वैसे ही जिन जीवो के शरीर से बाण बना उनके भी होता है। इसलिए इनके अविरति की दृष्टि से पाप-कर्म की क्रिया होती है।

(२) मुक्त जीवो के अविरति नही होती, इसलिए उनके त्यक्त शरीर द्वारा पाप-कर्म का बध नही होता।

(३) जिन जीवो के शरीर से धर्मोपकरण बनता है, उनसे उनके पुण्य कर्म का बध नही होता। पाप-बध का कारण—अविरति जैसे निरन्तर होती है, वैसे पुण्य बध का कारण—शुभ प्रवृत्ति निरन्तर नही होती। वह विवेकपूर्वक या प्रयत्नपूर्वक करने से ही होती है। तात्पर्य यह है—किसी जीव का त्यक्त शरीर किसी दूसरे जीव के हिंसा का सहायक बनता है, इतने मात्र से उसको हिंसा का दोष नही लगता किन्तु उसके भी पूर्व शरीर की आसक्ति त्यक्त नही होती, इसलिए उसे आसक्ति रूप हिंसा का दोष लगता है, प्रवृत्ति रूप नही। वह धर्म करने का साधन बनता है, तब उसे उसके द्वारा धर्म का फल नही मिलता। कारण यह है—धर्म तभी होना है जबकि आत्मा की उसमे प्रवृत्ति होती है, अन्यथा वह नही होता।[1]

अविरति की अपेक्षा जीव को अधिकरणी और अधिकरण भी कहा गया है।

अधिकरण

हिंसादि पाप कर्मों के हेतुभूत वस्तु को अधिकरण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—आन्तरिक और बाह्य। शरीर और इन्द्रियाँ आन्तरिक अधिकरण हैं और कुल्हाडी आदि परिग्रहात्मक वस्तुएँ बाह्य-अधिकरण। जिसके ये होते है, वह जीव 'अधिकरणी' कहलाता है और शरीरादि अधिकरण से कथचिद् अभिन्न होने से 'अधिकरण' भी कहलाता है।

सर्व-विरति वाले जीवो के शरीरादि अधिकरण नही होते। अविरति वाले जीवो के ही शरीरादि अधिकरण होते है।[2]

हिंसा का विवेक और त्याग

जो अपना दु ख जानता है, वह अपने से बाहर दूसरे का दु ख जानता है और जो अपने से बाहर दूसरे का दु ख जानता है, वही अपना दुःख जानता है।[3]

---

१. भगवती ५।६ वृत्ति
२ वही, १६।१
३ आचाराग १।१।१४७ जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ,
जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ।

जो व्यक्ति जीवो की हिंसा मे अपना अनिष्ट समझता है, वही उसका त्याग कर सकता है।

शान्ति को प्राप्त हुए सयमी पुरुष दूसरे जीवो की हिंसा कर जीने की इच्छा नही करते।

बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसा निश्चय करना चाहिए कि प्रमादवश पहले जो कुछ किया, वह आगे नही करूगा।

विविध कर्मरूपी हिंसा की प्रवृत्ति मैं नही करूँ—इस भावना से जो उठा है, इसी पर मनन किया है, अभय का मर्म समझा है—वही बुद्धिमान् व्यक्ति इन प्रवृत्तियो को नही करता। जिन प्रवचन मे ऐसे ही व्यक्ति को उपरत और अनगार कहा है।

जैन दर्शन का उद्देश्य है— निर्वाण —मोक्ष। निर्वाण कर्म की शान्ति से मिलता है। कर्म की शान्ति सर्व-विरति से होती है। सर्व-विरति प्रत्याख्यानीय चारित्र-मोह के विलय से प्राप्त होती है।

प्राणीमात्र का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह सर्व-विरति बने। किन्तु प्रत्याख्यानीय मोह का उदय रहते सर्व-विरति नही आती। यह आत्मा की अशक्यता है। इस अशक्यता की दशा मे यथाशक्य विरति का विधान है। किन्तु जिनके अप्रत्याख्यानीय मोह का उदय होता है, वे अशत भी विरति नही कर सकते। उनके लिए सम्यग्-दृष्टि बनने की व्यवस्था है। अनन्तानुबन्धी मोह के उदय से जो सम्यग्-दृष्टि भी नही बन सकते, उनके लिए निर्जरा—तपस्या का मार्ग खुला रहता है। निर्जरा— तप, सम्यग्-दृष्टि और विरति—ये मोक्ष के साधन हैं।

निर्जरा मोक्ष का साधन है पर केवल निर्जरा से मुक्ति नही होती, दृष्टि भी सम्यक् होनी चाहिए। चारित्र के बिना इन दोनो से भी मुक्ति नही होती। तीनो—सम्यग् दृष्टि, निर्जरा और चारित्र—विरति एक साथ होते हैं, तब आत्मा कर्म-मुक्त होती है। जो मुनि कैवल्य प्राप्त नही करता, वह मुक्त नही बनता। जो सर्व विरति नही बनता, वह वीतराग नही बनता। जो वीतराग नही बनता, वह कैवल्य प्राप्त नही करता। इसलिए सब मुनि मुक्त नही होते। किन्तु जो मुनि व्रत-पालन करते-करते वीतराग बन केवली बन जाते है, वे ही मुक्त होते है।

घर मे रहते हुए बहुत सारे आरम्भ-समारम्भ (हिंसा आदि कार्य) करने पड़ते हैं, इसलिए उस दशा मे सर्व-विरति हो नही सकती। आरम्भ-हिंसा करता हुआ जीव मुक्त नहीं बनता। गृहस्थ जितना त्याग करता है, उसकी उतनी ही विरति होती है, शेष अविरति होती है।

जो कुछ भी त्याग नही करता, वह अविरति होता है। इसके आधार पर तीन

पक्ष बनते हैं—

(१) अधर्म पक्ष,

(२) धर्म पक्ष,

(३) धर्म-अधर्म पक्ष।

सर्वथा अविरति होती है, वह अधर्म पक्ष है। सर्वथा विरति होती है, वह धर्म पक्ष है। कुछ विरति और कुछ अविरति होती है, वह धर्म-अधर्म पक्ष है। अधर्म पक्ष हिंसा का स्थान है, धर्म पक्ष अहिंसा का स्थान है, धर्म-अधर्म पक्ष अहिंसा और हिंसा का स्थान है।

हिंसा जीवन की परवशता

अहिंसा मे मैत्री है, सद्भावना है, सौहार्द है, एकता है, सुख और शान्ति है। अहिंसा का स्वरूप है उपशम, मृदुता, सरलता, सन्तोष, अनासक्ति और अद्वेष। अहिंसा हमारे मन मे है, वाणी मे है और कार्यों मे है, यदि इनके द्वारा हम न किन्ही दूसरो को सताते है और न अपने आपको। अहिंसा हमारी स्वाभाविक क्रिया है। हिंसा हमारे स्वभाव के प्रतिकूल है। हिंसा मे मनुष्य को परवशता का भान होना चाहिए। बिना खाए, बिना पीए, बिना कुछ किए शरीर चल नही सकता। शरीर के सामर्थ्य के बिना खाने-पीने का साधन नही जुटाया जा सकता। इस प्रकार की क्रमबद्ध शृखलाओ की अनिवार्य प्रेरणाओ से मनुष्य व्यापार करता है। धन का अर्जन करता है। उसकी रक्षा करता है। उपभोग करता है। चोर-लुटेरो से अपने स्वत्व को बचाता है। दण्ड-प्रहार करता है। शासन-व्यवस्था करता है और अपने विरोधियो से लोहा लेता है। यह सब हिंसा है। पूर्ण आत्म-सयम के बिना सब प्रकार की हिंसाओ को नही त्यागा जा सकता और सब प्रकार की हिंसाओ को त्यागने के पश्चात् ये सब काम नही किए जा सकते। कितनी जटिल समस्या है अहिंसा और हिंसा के बीच। हिंसा के बिना गृहस्थ जी नही सकता और अहिंसा के बिना वह मानवीय गुणो को नही पा सकता। ऐसी स्थिति मे बहुधा विचार-शक्तियाँ उलझ जाती हैं और अहिंसा का मार्ग कठोर प्रतीत होने लगता है। जैन आचार्यों ने मनो-वैज्ञानिक तरीको से मानसिक विचारो का अध्ययन किया, उनकी गहरी छानबीन की और तत्पश्चात् एक तीसरे हिंसा और अहिंसा के बीच के मार्ग (मध्यम मार्ग) का निरूपण किया। यह मार्ग यथाशक्य अहिंसा के स्वीकार का है। जैन दर्शन के अनुसार उसका नाम अहिंसा-अणुव्रत है।

गृहस्थ खाने के लिए भोजन पकाते हैं, पानी पीते हैं, रहने के लिए मकान बनवाते हैं, पहनने-ओढ़ने के लिए कपड़े बनवाते हैं—यह आरम्भी हिंसा है। खेती

करते हैं, कल-कारखाने चलाते है, व्यापार करते हैं—यह उद्योगी हिंसा है। राष्ट्र, जनता एव कुटुम्ब की रक्षा करते है, अततायियो से लडते हैं, अपने आश्रितो को आपत्तियो से बचाते है, छल-बल आदि सम्भव उपायो का प्रयोग करते हैं—यह विरोधी हिंसा है। द्वेषवश या लोभवश दूसरो पर आक्रमण करते है, बिना प्रयोजन किसी को सताते है, दूसरो का स्वत्व छीनते है, अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए मनमाना प्राण-बध करते है, वृत्तियो को उच्छृ खल करते है—यह सकल्पी हिंसा है। इस प्रकार हिंसा के चार प्रमुख वर्ग किए गए है। गृह-त्यागी मुनि इन चारो प्रकार की हिंसाओ को त्यागते है, अन्यथा वे मुनि नही हो सकते। गृहस्थ पहली तीन प्रकार की हिंसाओ को पूर्णरूप से नही त्याग सकते, तथापि यथासम्भव इनको त्यागना चाहिए। व्यापारादि करने मे मनुष्य का सीधा उद्देश्य हिंसा करने का नही, कार्य करने का होता है, हिंसा हो जाती है। सकल्पी हिंसा का सीधा उद्देश्य हिंसा का होता है, कार्य करने का नही। दूसरो के सुख, शान्ति, हित और अधिकारो को कुचलने वाले कार्य भी बहुधा सकल्पी हिंसा जैसे बन जाते है। अत सामूहिक न्यायनीति की व्यवस्था का उल्लघन करना भी सबल हिंसा का साधन है। सकल्पी हिंसा तो गृहस्थ के लिए भी सर्वथा वर्जनीय है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होनी वाली हिसा का असर व्यक्तिनिष्ठ है, समष्टिगत नही। किन्तु सकल्पी हिसा का अभिशाप समूचे राष्ट्र और समाज को भोगना पडता है।

४

आध्यात्मिकता का मापदण्ड विरति

किसी भी कार्य के दो पहलू होते है—लक्ष्य और परिणाम। पहले लक्ष्य बनता है, फिर कार्य और फिर परिणाम। लक्ष्य अतीत हो जाता है, कार्य वर्तमान रहता है और परिणाम भविष्य पर निर्भर होता है। लक्ष्य, कार्य और परिणाम—तीनो एक कोटि के होते है, तब वह कार्य सर्वांगपूर्ण होता है। लक्ष्य या कार्य मे भेद होता है अथवा कार्य या परिणाम मे भेद होता है अथवा लक्ष्य, कार्य और परिणाम तीनो मे भेद होता है, तब वे एकागी बन जाते है।

किसी भी वस्तु का मापदण्ड निश्चित करने की दो दृष्टिया होती हैं व्यवहार और निश्चय।

व्यवहार-दृष्टि स्थूल होती है, इसलिए उसके अनुसार हेतु, कार्य और परिणाम—तीनो भिन्न हो सकते हैं। निश्चय-दृष्टि मे ऐसी बात नही है। वह सूक्ष्म और तत्त्व-दर्शी है। इसलिए उसके अनुसार कार्य और उसका परिणाम—ये भिन्न कोटिक नही हो सकते। परिणाम कार्य का अवश्यम्भावी फल है। वह कभी भी और किसी भी स्थिति मे क्रिया के प्रतिकूल नही होता। क्रिया अच्छी और परिणाम बुरा, क्रिया बुरी और परिणाम अच्छा—यह जो दिखाई देता है, वह प्रासगिक परिणाम के कारण होता है। क्रिया के मौलिक फल की क्रिया के साथ ऐकान्तिक और आत्यन्तिक एकरूपता होती है—अच्छी क्रिया का फल अच्छा होता है और बुरी क्रिया का बुरा। निश्चय-दृष्टि के परिणाम क्रिया की अच्छाई और बुराई के मापदण्ड बन सकते हैं—जिसका परिणाम अच्छा होता है, वह क्रिया अच्छी और जिसका परिणाम बुरा होता है, वह क्रिया बुरी। ये (निश्चय-दृष्टि के परिणाम) अधिकांशतया नियमगम्य या सैद्धान्तिक होते हैं।

अहिंसा का वास्तविक परिणाम आत्म-शुद्धि है, यह एक नियम या सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति जान सके या नही किन्तु जहा अहिंसा होती है, वहा आत्म-शुद्धि

अवश्य होती है, इसलिए वह क्रिया की व्यावहारिक कसौटी नही बन सकती। व्यवहार-दृष्टि के परिणाम तथा निश्चय-दृष्टि के प्रासगिक परिणाम यद्यपि स्पष्ट होते हैं, उन्हे जानने के लिए नियम-निर्धारण की आवश्यकता नही होती। किन्तु क्रिया के स्वरूप के साथ उनकी एकरूपता नही होती, इसलिए उनमे क्रिया की और कोटि का निर्धारण करने की क्षमता नही होती।

क्रिया हेतु के अनुकूल भी हो सकती है और प्रतिकूल भी। हेतु और क्रिया की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक एकरूपता नही होती। इसलिए वह भी कार्य की कसौटी नही बन सकता।

काण्ट ने नैतिकता का मापदण्ड निश्चित करते समय निश्चय और व्यवहार-दृष्टि का उपयोग करते हुए लिखा है—प्रत्येक भला हेतु भला ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है। उसका बाह्य परिणाम भला या बुरा हो सकता है।[1]

नैतिकता के मापदण्ड के बारे मे पश्चिमी दार्शनिको के दो मतवाद हैं—हेतुवाद और परिणामवाद। हेतुवाद के अनुसार काम की भलाई या बुराई को देखने के लिए हमको उसके परिणाम को न देखकर उसके हेतु को देखना चाहिए। हेतु की शुद्धता पर कार्य की पवित्रता निर्भर करती है। जिस कार्य का हेतु पवित्र है, उसका फल चाहे जो कुछ हो, वह पवित्र ही कार्य है।[2]

काण्ट के इस हेतुवाद का प्रतिपक्ष बेन्थम और जान स्टुअर्ट मिल का परिणामवाद है। उसके अनुसार सभी कार्यों के हेतु एक से ही होते है। अतएव हेतु की दृष्टि से न किसी काम को भला और बुरा कहा जा सकता है। चोर चोरी अपने सुख के लिए करता है, इसी प्रकार दानी पुरुष भी दान सुख-प्राप्ति के निमित्त करता है। अतएव यदि हेतु पर विचार किया जाए तो न चोर का काम बुरा है और न दानी का भला। दोनो के काम एक ही हेतु से होने के कारण एक से ही है।

परिणामवादी नैतिक आचरण की कसौटी परिणाम को मानते है। सुखवाद इसी का आभारी है। बेन्थम के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है। वह उसे भला समझता है अतएव भलाई का काम वह है, जिसके द्वारा अधिक सुख मिले और बुरा काम वह है जिसके परिणामस्वरूप अधिक कष्ट मिले। सम्भवत ऐसा कोई भी काम न होगा, जिससे कुछ सुख और दु ख दोनो ही उत्पन्न न हो। पर हमे अपेक्षाकृत सुख और दु ख को देखना है। जिस काम मे सुख अधिक मिलता है और दु ख कम, वही अच्छा है।

यही बात जान स्टुअर्ट मिल कहते हैं—'प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है अतएव

---

१ नीतिशास्त्र, पृ० १६५

२ वही, पृ० १६६

सुख चाहने योग्य वस्तु है। इसलिए सुख की प्राप्ति करना नैतिक आचरण का आदर्श होना चाहिए।'

आचार्य भिक्षु के विचारानुसार हेतु और कार्य मे सार्वदिक और सार्वत्रिक एकरूपता नही होती। कार्य का परिणाम जो अनन्तर या निश्चय-दृष्टिपरक होता है, वह स्पष्ट जान नही पडता। और जो प्रासगिक परिणाम जान पडते हैं, वे कार्य के साथ निश्चित सम्बन्ध नही रखते—व्याप्त नही होते। इसलिए हेतु और परिणाम, ये दोनो उसकी कसौटी नही बनते।

कार्य की कसौटी उसके स्वरूप का विवेक ही है। कार्य जैसे सहेतुक होता है, वैसे निर्हेतुक भी होता है। हेतु यदि कार्य की कोटि का निर्णायक हो तो सहज भाव से होने वाले कार्य की कोटि का निर्णायक फिर कौन होगा? इसलिए कार्य के स्वरूप का विवेक ही उसकी कोटि का निर्णायक हो सकता है। कार्य अमुक कोटि का है—आध्यात्मिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक या असामाजिक है—ऐसा निर्णय होने पर उसकी अच्छाई, बुराई, उपयोगिता, अनुपयोगिता का निर्णय सापेक्ष होता है। सभी दृष्टियो से या अपेक्षाओ से कोई भी कार्य अच्छा या बुरा नही होता।

किसी भी कार्य को अच्छा या बुरा कहने के पीछे एक विशेष दृष्टि या अपेक्षा होती है। चोर अपने सुख के लिए चोरी करता है। उस द्वारा कल्पित सुख की दृष्टि से चोरी बुरी नही है, चोरी बुरी है आदर्श की दृष्टि से। सुख की चाह प्राणी की मनोवृत्ति है। वह आदर्श का मानदण्ड नही है। 'केवल वस्तुस्थिति के आधार पर आदर्श का निश्चय नही किया जा सकता। जहा पर आदर्श का निश्चय होता है, वहाँ पर मनुष्य को वस्तुस्थिति के स्तर से ऊचा उठना पडता है। अतएव केवल मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के नैतिक आचरण का मापदण्ड निश्चित करना अनुचित है। कर्तव्यशास्त्र मे प्रधान बात यह नही है कि मनुष्य क्या करना चाहता है, वरन् प्रधान बात यह है कि उसे क्या करना चाहिए। मनुष्य मे सुख की चाह अवश्य है परन्तु उसमे इस चाह को नियन्त्रित करने की योग्यता भी है। वह अपने विवेक के द्वारा सुख की चाह को नियन्त्रित कर सकता है।'[1]

जिस कार्य का हेतु पवित्र होता है, वह कार्य पवित्र ही है—यह एकागी हेतु-वाद भी निर्दोष नही है। हेतु की पवित्रता मात्र से कार्य पवित्र नही बनता। कार्य हेतु की पवित्रता के अनुरूप ही हो, तभी पवित्र बनता है। जैसा हेतु वैसा ही कार्य—यह हेतु और कार्य की जो अनुरूपता है, वही कार्य की कसौटी है। उदाहरण-स्वरूप—अहिंसा का आचरण आध्यात्मिक कार्य है। उसका हेतु है—आत्म-

१ नीतिशास्त्र, पृ० २४, २५।

शोधन। अध्यात्म की दृष्टि से अहिंसा का आचरण इसलिए अच्छा है कि वह आत्म शोधन केअनुरूप है। आत्म-शोधन और अहिंसा की एकात्मकता है। आत्म-शोधन के लिए जो कुछ करे, वह धर्म नही किन्तु आत्म-शोधन अनात्म-भाव की विरति से होता है। इसलिए आत्म-शोधन की दृष्टि से विरति धर्म है, अविरति अधर्म है।

हेतु और क्रिया का सामजस्य हो (दोनो की एकरूपता हो), वहा यह बन सकता है

हेतु अच्छा—कार्य अच्छा।

हेतु बुरा—कार्य बुरा।

परिणाम अच्छा—कार्य अच्छा।

परिणाम बुरा—कार्य बुरा।

जिस कार्य का हेतु अपवित्र होता है वह कार्य अपवित्र ही है, यह एकांगिता भी उचित नही। जैसे हेतु के पवित्र होने मात्र से कार्य पवित्र नही होता, वैसे ही हेतु के अपवित्र होने मात्र से कार्य अपवित्र नही होता। पवित्रता और अपवित्रता अपने-अपने स्वरूप मे निहित होती है। हेतु इतना बलवान् हो कि वह कार्य के स्वरूप को ही बदल डाले अथवा कार्य इतना बलवान् हो कि वह हेतु के स्वरूप को ही बदल डाले, वहा वे पवित्र हो या अपवित्र, उनकी एकरूपता होती ही है। उसी का नाम है—हेतु और क्रिया का सामजस्य, जिसके रूप ऊपर बताए जा चुके है। किन्तु जहा दोनो एक-दूसरे को आत्मसात् नही कर पाते, वहा वे एकांगी अवश्य होते है। पर उनका स्वरूप परस्परावलम्बी नही होता। जैसे कोई व्यक्ति, अमुक हिंसक को समझाकर अहिंसक बनाऊ या अमुक अहिंसक हिंसा मे जा रहा है, उसे फिर से अहिंसा मे स्थिर करू—इस पवित्र उद्देश्य को लिए चला। किन्तु चला असावधानी से, मार्ग मे कीडो को कुचलते हुए चला। उसके जाने का उद्देश्य पवित्र है किन्तु जाना इसलिए पवित्र नही रहा कि उसका (जाने का) स्वरूप स्वय हिंसात्मक हो गया। यदि वह सावधानीपूर्वक जाता, जीवो को नही मारता तो उसका जाना भी पवित्र होता। किन्तु जाने मे हिंसा हुई, इसलिए वह वैसा नही हुआ।

दूसरा मुख्य कार्य है—हिंसक को अहिंसक बनाना या अहिंसक को फिर से अहिंसा मे स्थिर करना। हिंसक अहिंसक बनेगा या नही और अहिंसक फिर से अहिंसा मे स्थिर होगा या नही, यह तो उसी के विवेक पर निर्भर है। किन्तु जो समझाने चला, वह उन्हे समझाने के अपने प्रयत्नो को अहिंसक नही रख सका। उन्होने उसकी बात नही मानी, वह क्रोध के मारे आग-बबूला हो गया, बकवास करने लगा उद्देश्य पवित्र था, किन्तु कार्य पवित्र नही हुआ।

ऐसे प्रसगो मे जहा हेतु और कार्य के स्वरूप एक-दूसरे पर अवलम्बित नही होते (उनका सामजस्य नही होता), वहा हेतु और क्रिया मे असामजस्य की स्थिति में, उनका स्वरूप-विवेक ही उनकी कसौटी बनता है। स्वरूपात्मक कसौटी की दृष्टि से हेतु और कार्य के रूप इस प्रकार होगे

१ हेतु अच्छा—कार्य बुरा।

२ हेतु बुरा—कार्य अच्छा।

पहले रूप का निदर्शन ऊपर की पक्तियो मे आ चुका है। दूसरे रूप का निदर्शन इस प्रकार है

(१) एक व्यक्ति मार से बचने के लिए सच बोला। सच बोलने का हेतु सही नही है किन्तु वह असत्य नही बोला, यह गलत नहीं है।

(२) रोटी नही मिली, अनिच्छा से भूख सही, यह अकाम-तपस्या है। इसका भावात्मक हेतु नही, इसलिए वह वस्तुवृत्या अहेतुक है। किन्तु अभावात्मक (रोटी के अभाव को ही) हेतु माना जाए तो उस स्थिति मे यह निष्कर्ष आता है कि रोटी का अभाव पवित्र नही। पवित्र है—भूख सहन, जो कि तपस्या है। श्रीमज्जयाचार्य के शब्दो मे—अकाम तपस्या मे आत्म-शोधन की दृष्टि से भूख सहने की इच्छा नही है। यह बुराई है। किन्तु जो भूख सही जाती है, वह बुराई नही।

पौद्गलिक सुख के लिए तपस्या की। यहाँ हेतु की दृष्टि से कार्य अच्छा नहीं है। फिर भी तपस्या का स्वरूप निर्दोष है, इसलिए स्वरूप की दृष्टि से वह बुरा भी नही।

हेतु और क्रिया की समजस स्थिति जैसा परिणाम लाती है, वैसा परिणाम उनकी असमजसता मे नही आता। आत्म-शोधन के लिए होने वाली तपस्या मे पवित्रता का जो सर्वांगीण-उत्कर्ष होता है, वह अनिच्छा या पौद्गलिक इच्छा से होने वाली तपस्या मे कभी नही होता। फिर भी एकागिता मे जितना होना चाहिए, उतना परिणाम अवश्य होता है।

एक व्यक्ति का उद्देश्य है—बडप्पन। उसकी पूर्ति के लिए वह तपस्वी बनता है।

पहले मे क्रिया उद्देश्य के अनुरूप नही है। दूसरे मे उद्देश्य क्रिया के अनुरूप नहीं है। प्रतिरूप क्रिया उद्देश्य को पूरा नहीं होने देती और प्रतिरूप उद्देश्य क्रिया को पूरा नही बनने देता। इसकी असमजसता न मिटने तक पूर्णता आती ही नहीं, इसलिए यह स्थिति वाछनीय नही है, फिर भी यह मानना पडता है कि स्वरूप की दृष्टि से दोनों एक नहीं हैं।

परिणाम से धर्म-अधर्म का निर्णय नही होता। उसे आचार्य भिक्षु ने तीन

उदाहरणो द्वारा समझाते हुए कहा —

१ एक सेठ की दूकान मे साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के बारह बजे थे। गहरा सन्नाटा था। नि स्तब्ध वातावरण मे चारो ओर मूक शान्ति थी। चोर आए। सेठ की दूकान मे घुसे। ताला तोडा। धन की थैलियाँ ले मुडने लगे। इतने मे उनकी नि स्तब्धता भग करने वाली आवाज़ आयी—'भाई ! तुम कौन हो ?' उनको कुछ कहने का, करने का मौका ही नही मिला कि तीन साधु सामने आ खडे हो गए। चोरो ने देखा कि साधु है, उनका भय मिट गया और उत्तर मे बोले— 'महाराज ! हम हैं ' उन्हे यह विश्वास था कि साधुओ के द्वारा हमारा अनिष्ट होने का नही, इसलिए उन्होने और स्पष्ट शब्दो मे कहा—'महाराज ! हम चोर है ' साधुओ ने कहा—'इतना बुरा कार्य करते हो, यह ठीक नही।'

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनो का सवाद चला। साधुओ ने चोरी की बुराई बताई और चोरो ने अपनी परिस्थिति। समय बहुत बीत चला। दिन होने चला। आखिर चोरो पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय मे परिवर्तन आया। उन्होने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोडने का निश्चय कर लिया। चोरी न करने का नियम भी कर लिया। वे अब चोर नही रहे, इसलिए उन्हे भय भी नही रहा। कुछ उजाला हुआ, लोग इधर-उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता-घूमता अपनी दूकान के पास से निकला। टूटे ताले और खुले कि वाड देख वह अवाक् सा हो गया। तुरन्त ऊपर आया और देखा कि दूकान की एक ओर चोर बैठे हैं, साधुओ से बात कर रहे है और उनके पास धन की थैलियाँ पडी है। सेठ को कुछ आशा बधी। कुछ कहने जैसा हुआ, इतने मे चोर बोले —'सेठजी ! यह आपका धन सुरक्षित है, चिन्ता न करे। यदि आज ये साधु यहाँ न होते तो आप भी करीब-करीब साधु-जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और इसके साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया।'

सेठ बडा प्रसन्न हुआ। अपना धन सम्भाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया।

यह पहला चोर का दृष्टान्त है। इसमे दो बाते हुई—एक तो साधुओ का उपदेश सुन चोरो ने चोरी छोडी, इसमे चोरो की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी, उसके साथ सेठजी का धन भी बचा। अब सोचना यह है कि इसमें आध्यात्मिक धर्म कौन-सा है ? चोरो की आत्मा चोरी के पाप से बची, वह या सेठजी का धन बचा, वह ?

२. कसाई बकरो को आगे किए जा रहा था। मार्ग मे साधु मिले। उनमे

से प्रमुख साधु ने कसाई को सम्बोधित करते हुए कहा—'भाई ! इन बकरो को भी मौत से प्यार नही, यह तुम जानते हो। इनको भी कष्ट होता है, पीडा होती है, तुम्हें मालूम है। खैर ! इसे जाने दो। इनको मारने से तुम्हारी आत्मा मलिन होगी। उसका परिणाम दूसरा कौन भोगेगा ?'

मुनि का उपदेश सुन कसाई का हृदय बदल गया। उसने उसी समय बकरों को मारने का त्याग कर दिया और आजीवन निरपराध त्रस जीवो की हिंसा का भी प्रत्याख्यान किया। कसाई अहिंसक—स्थूल-हिंसा-त्यागी बन गया।

यह दूसरा कसाई का दृष्टान्त है। इसमे भी साधु के उपदेश से दो बातें हुई—एक तो कसाई हिंसा से बचा और दूसरी, उसके साथ-साथ बकरे मौत से बचे। अब सोचना यह है कि इनमे आध्यात्मिक धर्म कौन-सा है ? कसाई हिंसा से बचा, वह या बकरे बचे, वह ?

चोर चोरी के पाप से बचे और कसाई हिंसा से। यह उनकी आत्मशुद्धि हुई, इसलिए यह नि सन्देह आध्यात्मिक धर्म है। चोरी और हिंसा के त्याग से उन्हे धर्म हुआ, किन्तु इन दोनो के प्रसग मे जो दो कार्य और हुए—धन और बकरे बचे, उनमे आत्मशोधन का कोई प्रसग नही। इसलिए उनके कारण धर्म कैसे हो सकता है ? यदि कोई उन्हे भी आध्यात्मिक धर्म माने तो उसे तीसरे दृष्टान्त पर ध्यान देना होगा।

३ अर्द्धरात्रि का समय था। बाजार के बीच एक दूकान मे तीन साधु स्वाध्याय कर रहे थे। सयोगवश तीन व्यक्ति उस समय उधर से निकले। साधुओ ने उन्हे देखा और पूछा—'भाई ! तुम कौन हो ? इस घोरबेला मे कहा जा रहे हो ?' यह प्रश्न उनके लिए एक भय था। वे मन ही मन सकुचाए और उन्होने देखने का यत्न किया कि प्रश्नकर्ता कौन है ? देखा, तब पता चला कि हमे इसका उत्तर एक साधु को देना है—सच कहें या झूठ ? आखिर सोचा—साधु सत्यमूर्ति हैं। इनके सामने झूठ बोलना ठीक नही। कहते सकोच होता है, न कहें यह भी ठीक नही क्योकि इससे उनकी अवज्ञा होती है। यह सोच वे बोले—'महाराज ! क्या कहे ? आदत की लाचारी है, हम पापी जीव है, वेश्या के पास जा रहे हैं।' साधु बोले—'तुम कुलीन दीखते हो, सच बोलते हो, फिर भी ऐसा अनार्य कर्म करते हो, तुम्हें यह शोभा नही देता। विषय-सेवन से तुम्हारी वासना नहीं मिटेगी। घी की आहुति से आग बुझती नही।'

साधु का उपदेश हृदय तक पहुंचा और ऐसा पहुचा कि उन्होने तत्काल उस जघन्य वृत्ति का प्रत्याख्यान कर डाला। वह वेश्या बहुत देर तक उनकी बाट देखती रही, आखिर वे आए ही नही, तब उनकी खोज में चल पडी और घूमती-

फिरती वही जा पहुची। अपने साथ चलने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वह व्याकुल हो रही थी, उसने कहा—'आप चले, नही तो मैं कुए मे गिरकर आत्महत्या कर लूगी।' उन्होने कहा—'हम जिस तीव्र कर्म को छोड चुके, उसे फिर नही अपनाएगे।' उसने तीनो की बात सुनी-अनसुनी कर कुए मे गिर आत्महत्या कर ली।

यह तीसरा व्यभिचारी का दृष्टान्त है। इसमे भी दो बाते हुईं—एक तो साधु के उपदेश से व्यभिचारियो का दुराचार छूटा और दूसरी, उनके कारण वह वेश्या कुए मे गिर मर गई। अब कुछ ऊपर की ओर चले। यदि चोरी-त्याग के प्रसग मे बचने वाले धन से चोरो को, हिंसा-त्याग के प्रसग मे बचने वाले बकरो से कसाई को धर्म हुआ माना जाए तो व्यभिचार-त्याग के प्रसग मे वेश्या के मरने के कारण इन तीनो व्यक्तियो को अधर्म हुआ, यह भी मानना होगा।

यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है कि धर्म-अधर्म आत्मा की मुख्य प्रवृत्तियो पर निर्भर है, प्रासगिक प्रवृत्तिया धर्म-अधर्म का कारण नही बनती।

तीनो के परिणाम क्रमश —(१) धन की रक्षा, (२) बकरो की रक्षा और (३) वेश्या की मृत्यु है। परिणाम से कार्य का मूल्य आका जाए तो एक ही कोटि का कार्य दो जगह अच्छा होगा और तीसरी जगह बुरा, किन्तु ऐसा होने पर भी किसी भी कार्य का मूल्याकन स्थिर नही हो सकता। चोरी का त्याग, जीव-हिंसा का त्याग और व्यभिचार का त्याग, जो मुनि के उपदेश से हृदय-परिवर्तन होने पर आत्म शुद्धि के लिए किए गए उनका स्वरूप विरति या सयम है। और वे आत्म-शुद्धि के विरोधी नही है तथा उनका अनन्तर परिणाम आत्म-शुद्धि है।

आचार्य भिक्षु ने इस स्वरूप-विवेकात्मक कसौटी से धर्म-अधर्म को कसा और उनके लक्षण बाधे। उनकी परिभाषा के अनुसार अहिंसा ही धर्म है। उनका लक्ष्य है—आत्म-शुद्धि-साधकता। सुख-साधकता धर्म का लक्षण नही है। कई प्राचीन तत्त्ववेत्ता सर्व-भूत-सुख को ही मनुष्य का श्रेष्ठ ध्येय मानते थे। उस पक्ष का सार यह है कि लोक-हितकारक और लोक-सुखकारक जो कर्म है, वह धर्म है, लोक-दु खकारक अधर्म। कुमारिल भट्ट ने इस पक्ष को अमान्य बतलाया। कारण साफ है—श्रुति, स्मृति और परम्परा के बहुत सारे विधि-निषेध इस कसौटी पर ठीक नहीं उतर सकते। आचार्य भिक्षु ने बताया—आध्यात्मिक भूमिका का सुख है—निर्जरा—आत्म-शुद्धि। धर्म उसका साधन है। वह पौद्गलिक सुख का साधन हो तो अधर्म जैसा कोई कार्य रहता ही नही। डॉ० लक्ष्मणशास्त्री ने प्रो० दफ्तरी के मत की मीमांसा करते हुए लिखा है—'दफ्तरीजी धर्म का मुख्य लक्षण सुख-साधकता बतलाते हैं, परन्तु यह धर्म का लक्षण नही हो सकता। क्योकि बहुत सारे

सामाजिक कर्तव्य ऐसे होते हैं कि उनसे व्यक्ति को दुःख और सकट ही मिलता है। फिर भी उन्हें पूरा करना पडता है। इस पर कोई यह कहेगा कि किसी भी व्यक्ति की कर्म-प्रवृत्ति सुखार्थ अथवा दुःख-निवारणार्थ होती है। पर-हितार्थ निरन्तर रत रहने वाले साधु और सर्वथा स्वार्थी कृपण मनुष्य—इन दोनो की प्रवृत्ति सुखार्थ ही होती है। फासी पर जाने वाले देश-भक्त को भी एक प्रकार का सुख प्राप्त होता है। इसका उत्तर यह है कि तो फिर सुख-साधकता धर्म्य और अधर्म्य ठहराने की कसौटी नही हो सकती। कारण एक ही क्रिया कितने ही व्यक्तियो के लिए सुख-साधन और कितने ही व्यक्तियो के लिए दुःख-साधन हो जाती है। यज्ञ के पुरोहित को दान करना, यह क्रिया वेदो पर श्रद्धा रखने वाले यजमान को सुख, सन्तोष देती है और वही क्रिया वेदो पर श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य को विषाद और असतोष उत्पन्न कर देती है, क्योकि विशिष्ट कर्तव्यो का मूल्य विशिष्ट सामाजिक स्थिति मे ही उत्पन्न होता है। सनातन धर्म की परम्परा पर विश्वास रखने वाले चमार को अस्पृश्यता के व गुलामगिरी के नियम पालने मे अत्यन्त सुख-सन्तोष मिलता है और उस पर श्रद्धा न रखने वाले चमार को दुःख और पाप जान पडता है। इस तरह सुख-साधकता धर्म का लक्षण नही बन सकता।'[1]

जहां विरति नही, वहा दया, दान या कुछ भी हो, वह आत्म-शुद्धि-साधक धर्म नही है। थोडे मे उनके विवेकवाद का यही सार है। विवेकवाद के आचार्यों ने इस सिद्धान्त को लगभग यू ही माना है। काण्ट के अनुसार—'दया अथवा मोह से प्रेरित होकर स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति के विरुद्ध काम करना मानसिक बीमारी का लक्षण है।'[2]

'जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश मे आता है, वह उतनी ही दूर तक नैतिक आचरण करने मे असमर्थ रहता है।'[3]

जिन सवेगो और आवेगो को लोग भला समझते है, उन्हें स्टोइक[4] लोग बुरा समझते थे। किसी भी परिस्थिति मे दया के आवेश मे आना बुरा है। मनुष्य दया के आवेश मे आकर भी अपने विवेक को भूल जाता है और न्याय न करके समाज का अहित कर देता है। दया के स्थान पर स्टोइक लोग प्रशान्त मन रहने और सद्भावना लाने का आदेश करते हैं। सब प्राणियो मे आत्मीयता स्थापित करनी

---

१. हिन्दू धर्म की समीक्षा, पृ० ६१

२ नीतिशास्त्र, पृ० १६६

३ वही, पृ० १६८

४. विवेकवाद का एक विशेष मत 'स्टोइकवाद' है। ईसा से ३०० वर्ष पहले साइप्रस द्वीप के निवासी 'जैनो' ने इसका प्रवर्तन किया।

चाहिए। आत्मीयता उपादेय है, दया नही।''[1]

आचार्य भिक्षु का विवेकवाद आध्यात्मिक विवेकवाद है। उन्होने कहा—'दया मात्र, दान पात्र आध्यात्मिक हैं—ऐसी मान्यता उचित नही। वही दया और दान आध्यात्मिक है जो अहिंसात्मक है, राग-द्वेष-रहित है। शेष दया-दान अन्-आध्यात्मिक है।'

उनके आध्यात्मिक विवेकवाद के फलित ये हैं

१ विरति धर्म है।

२ अविरति अधर्म है।

३ सुख-साधकता धर्म का लक्षण नही है।

४ ससार और मोक्ष का मार्ग भिन्न-भिन्न है।

५ परिणाम से धर्म-अधर्म का निर्णय नही होता।

६ क्रिया का फल वर्तमान मे होता है, पहले-पीछे नही।

७ व्रत-वृद्धि के लिए अविरति-पोषण धर्म नही।

८ परिग्रह का आदान-प्रदान धर्म नही।

९ हिंसा मे और हिंसा से धर्म नही होता।

(क) एक की रक्षा के लिए दूसरे को मारना धर्म नही।

(ख) बडो के लिए छोटो को मारना धर्म नही।

(ग) देव, गुरु और धर्म के लिए हिंसा करना धर्म नही।

१० धन से धर्म नही होता।

११ बलात्कार से धर्म नही होता।

१२ हिंसा किए बिना धर्म नही—ऐसा मानना मिथ्या है।

१३ एक ही कार्य मे अल्प-पाप, बहु-निर्जरा होती है—ऐसा मानना मिथ्या है।

१४ मिश्र-धर्म—एक ही प्रवृत्ति मे धर्म-अधर्म दोनो की प्ररूपणा मिथ्या है।

१५ व्रताव्रती का आहार व्रत और अव्रत दोनो का पोषक नही।

१६ गृहस्थ दान का पात्र—अधिकारी नही।

१७ गृहस्थ का खान-पान अव्रत मे है।

१८ तपस्या धर्म है, पारणा धर्म नही।

---

१. नीतिशास्त्र, पृ० १४८

वृत्ति, व्यक्ति और वस्तु का सम्बन्ध

१ कर्म अपना किया हुआ होता है, परकृत या उभयकृत नही होता। कर्म का नाश भी अपना किया हुआ होता है, परकृत या उभयकृत नही होता।

२ कर्म के दो रूप है—एक पुण्य, दूसरा पाप और कर्म-विलय का रूप है—निर्जरा, जो धर्म है। पवित्र काय-चेष्टा, वाणी और अन्त करण से पुण्य बधता है और अपवित्र काय-चेष्टा, वाणी और अन्त करण से पाप। पुण्य-बन्ध का कारण उक्त तीन कारणो के अतिरिक्त और कोई नही है। पाप-बन्ध के उक्त कारणो के सिवा चार और कारण है

(१) मिथ्या-दर्शन,
(२) अविरति,
(३) प्रमाद,
(४) कषाय।

३ पुण्य-पाप की कारण-सामग्री विवाद-स्थल नही है। विवाद का विषय है—पवित्र-अपवित्र की चर्चा।

पवित्र-अपवित्र की मान्यता ऐकान्तिक नही हो सकती। वह सापेक्ष है। एक दृष्टि से जो वृत्ति पवित्र होती है, वह दूसरी दृष्टि से अपवित्र। इसलिए एक ही दृष्टि से किसी भी वृत्ति को पवित्र या अपवित्र नही कहा जा सकता। विवाह का सकल्प गृहस्थाश्रम की दृष्टि से पवित्र है किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम की दृष्टि से वह पवित्र नही है। विवाह को अपवित्र कहना गृहस्थाश्रम के बधे हुए सस्कारो मे उभार लाता है और उसे समग्र-दृष्टि से पवित्र कहना ब्रह्मचर्य की निष्ठा को तोडने जैसा है। इसलिए एकान्तवादी विचार का समाधान उनकी अपनी-अपनी मर्यादा मे ढूढना चाहिए। विवाह अपनी मर्यादा मे अपने आश्रम की दृष्टि से पवित्र है—इतना ही बस है। यह इससे आगे बढा कि सघर्ष हुआ। मर्यादा-भेद या भूमिका-भेद को समझे बिना सघर्ष टलने का कोई रास्ता ही नही दीखता।

४ वृत्ति का पहला रूप ज्ञान है। वह न पवित्र होता है और न अपवित्र। वह ज्ञानावरण का विलय-भाव है। उससे कर्म का बन्ध या विलय कुछ भी नही होता। वही ज्ञान सस्कारो से भावित होकर वृत्ति या भावना बनता है, तब उसके पवित्र और अपवित्र—ये दो रूप बन जाते हैं। इसलिए भावना या अन्त करण को पवित्र या अपवित्र कहने या मानने के पहले उसके पवित्र और अपवित्र होने के हेतु को ढूढ निकालना चाहिए। हेतु की छानबीन मे अगर हमने एकान्त-दृष्टि का आश्रय लिया

तो निर्णय सही नही आएगा। विचार के विषय की मर्यादा को सापेक्ष दृष्टि से ध्यान मे रखकर ही उसे ढूढना चाहिए।

५ दूसरा व्यक्ति और वस्तु किसी तीसरे की वृत्ति को अपवित्र या पवित्र नही बनाते, केवल निमित्त बन सकते हैं। अपवित्रता और पवित्रता अपने ही अर्जित सस्कारो के परिणाम है और उन्ही से कर्म-बन्धन होता है। यह सब सोलह आना सही है। किन्तु किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ हमारी क्रिया या भावना का धागा जुडता है, वह किस रूप मे और किस सस्कार से भावित होकर जुडता है, यह विचारार्ह है। कार्य का मूल्याकन इसी पर से होगा।

६ (क) पवित्र भावना से पुत्र का मास खाने वाला निर्दोष है—एक ऐसा अभिमत है।

(ख) दु ख-मोचन के लिए छटपटाते प्राणी को करुणार्द्र होकर मार डालने की भावना भी पवित्र मानी जाती रही है।

(ग) अनासक्त भाव से केवल प्रजा की उत्पत्ति के लिए अब्रह्मचर्य-सेवन भी बहुतो द्वारा पवित्र माना जाता है।

(घ) आततायी को मारने मे कोई दोष नही— यह मान्यता भी नई नही है।

इस प्रकार पवित्रता की विविध कल्पनाए है। अपवित्रता के पीछे भी ऐसा ही कल्पनाओ का जाल गुथा हुआ है। अगर हम वृत्ति को ही एकमात्र स्थान दे, उसके वर्तन के आधारभूत वस्तु और व्यक्ति को भुला बैठे—यह घोर ऐकान्तिकता होगी।

७ रोटी एक वस्तु है। वह परिग्रह नही है और न वह किसी का भला-बुरा करने वाली है किन्तु व्यक्ति की वृत्ति से जुडकर वह भी परिग्रह बन जाती है। स्थूल दृष्टि से यही कहा जाएगा कि रोटी जीवन-निर्वाह की अनिवार्य अपेक्षा है। वह परिग्रह क्यो ? उस पर भला क्या ममत्व होगा ? किन्तु सूक्ष्म विचार की बात कुछ और ही होगी। रोटी खाने के स्थूल सस्कार जीवन-निर्वाह के भले हो, पर सस्कारो की शृखला इतने मे बस नही होती। रोटी रखने और खाने की पृष्ठ-भूमि में अविरति और असयम के अनेक सूक्ष्म सस्कार छिपे हुए होते हैं। वे वृत्तियो को वस्तु-ग्रहण के लिए उत्तेजित किए रहते हैं। इसीलिए अविरति की स्थिति मे खान-पान और अविरतिमय आदान-प्रदान ममत्व के सूक्ष्म-सस्कारों के पोषक ही रहते है, निवर्तक नही। सर्वविरति विधिपूर्वक भोजन कर सात-आठ कर्मों की निर्जरा करता है। अविरति का भोजन कर्म-बन्ध का हेतु है।

८. एक परिग्रही का परिग्रह दूसरे परिग्रही के पास जाता है। जिसके

पास परिग्रह है, उसका परिग्रह, जिसके पास नही है, उसके पास जाता है या जिसके पास अधिक परिग्रह है, वह कम वाले के पास जाता है। इससे सामाजिक आवश्यकता की आंशिक पूर्ति अवश्य हो जाती है, दाता की वृत्ति अपरिग्रह की नहीं होती। परिग्रह का स्थानान्तरण अपरिग्रह नही होता। परिग्रह रखना जैसे धर्म नही, वैसे ही परिग्रह रखाना और रखने को अच्छा जानना भी धर्म नहीं है। जैन धर्म अविरति और विरति को तीन करण, तीन योग से मानता है। परिग्रह से अपना सयम है। परिग्रह करने की वृत्ति का त्याग है, वह धर्म है, अथवा परिग्रही को अपनी वस्तु देकर (दान-काल के पश्चात्) परिग्रह की क्रिया से मुक्त होने की जो वृत्ति है, वह धर्म है।

६ सयमी को ज्यो-त्यो देना ही धर्म है— यह मान्यता भ्रमकारी है। उसे शुद्ध अहार ऐषणापूर्वक शुद्धवृत्ति से दिया जाए, वही धर्म है, शेष नही। जैन आगमो की दृष्टि से धर्म-दान का स्वरूप यह होगा

व्यक्ति—सयमी
वस्तु—शुद्ध } परिणाम—धर्म
वृत्ति—शुद्ध

व्यक्ति—सयमी
वस्तु—अशुद्ध—आधा कर्म } परिणाम—अधर्म
वृत्ति—अशुद्ध—नागश्री जैसी

वस्तु अशुद्ध होगी, वहा वृत्ति शुद्ध नही हो सकती। तात्पर्य कि अशुद्ध वस्तु देने की वृत्ति शुद्ध नही होती।

साधु विद्यार्थी है। उसे पोषक खाद्य नही मिल रहा है। साधु के पढने मे खलल न हो, यह सोचकर कोई व्यक्ति पोषक भोजन बना उसे देता है और वह उस वृत्ति को पवित्र मानता है। विद्या को ही प्राधान्य देने वालो की दृष्टि से वह अपवित्र नही भी है। किन्तु अहिंसा की दृष्टि से सोचने वाले उसे मोह कहेंगे। आधाकर्म आहार साधु के लिए अग्राह्य है, इसलिए वैसा आहार देने का सकल्प पवित्र होगा या मोह—यह समझना कठिन नही है। अगर वृत्ति के साथ जुडी हुई वस्तु का कोई महत्त्व नही होता तो मुनि प्रासुक और ऐषणीय आहार ले, अप्रासुक अनेषणीय न ले—ऐसी व्यवस्था भगवान् महावीर क्यो करते ? सयमी अशुद्ध और अनेषणीय आहार लेता है तो उसका लेना धर्म नहीं होता। गृहस्थ संयमी को अशुद्ध और अनेषणीय आहार देता है तो उसका देना भी धर्म नहीं होता। नागश्री ने धर्मघोष मुनि को अकल्प्य आहार दिया और हिंसापूर्ण वृत्ति से

दिया, इसलिए वह दान धर्म नही हुआ। रेवती ने भगवान् महावीर की रोग-दशा से द्रवित होकर कुष्माण्ड पाक बना डाला। स्थूल-दृष्टि से इसमे उसकी कोई दुर्भावना नही जान पड़ती। भगवान् उसकी स्थूल वृत्ति के पीछे रहे हुए मोह को जानते थे, इसलिए उन्होने वह नही लिया। भावना के शुद्ध या अशुद्ध होने का निर्णय स्थूल वृत्ति के आधार पर से नही किया जा सकता। उसके लिए सूक्ष्म सस्कारो की तहो मे पहुचना होता है।

१० मोक्ष की साधना के लिए पहाड से गिरकर मरने वाले की भावना क्या खराब है? उसका वैसा ही विश्वास है। और भी इस कोटि के बहुत सारे अकाम मरण है। बहुत सारे आदमी मोक्ष मिल जाए—इस भावना से अज्ञान-कष्ट सहते हैं। आखिर सूक्ष्म सस्कारो को पकडे बिना स्थूल विचार के आधार पर शुद्ध या अशुद्ध भावना की कोई परिभाषा ही नही बनती।

११ जैन आगमो के अनुसार कहा जा सकता है—अविरतिजनित सस्कार और उन सस्कारो द्वारा उत्पन्न होने वाली भावना या वृत्ति आत्म-मुक्ति की दृष्टि से शुद्ध नही हो सकती।

१२ सर्वविरति सुप्त (प्रमाद-दशापन्न) होते है, तभी उनके शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये पाच जागृत होते है, यानी कर्म-बन्ध के कारण बनते है। वे जागृत होते है, तब उनके ये पाचो सोए हुए रहते है, यानी कर्मबन्ध के कारण नही बनते। असयती मनुष्य के सुप्त और जागृत—दोनो दशाओ मे शब्दादि पाचो जागृत रहते है—कर्म-बन्ध के कारण बने रहते है।

यह अविरति और विरति की भेद-रेखा है। इसे समझ लेने पर तेरापथ का समूचा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है।

१३ आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

आस्रवो भवहेतु स्यात्, सवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टि, सर्वमन्यत् प्रपचनम्॥

वैसे ही आचार्य भिक्षु की भावना को इन शब्दो मे रखा जा सकता है

अविरति भवहेतु स्यात्, विरतिमोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टि, सर्वमन्यत् प्रपचनम्॥

असयमी व्यक्ति के जीवन-निर्वाह से असयम के सूक्ष्म सस्कार जुडे हुए होते हैं, इसलिए वह धर्म नही माना जाना चाहिए। धर्म नही, वहा पुण्य नही बधता। योग की प्रवृत्ति धर्ममय होती है, उसी काल मे योगजनित कर्म पुण्य रूप बधता है, शेष काल मे नही। इसलिए असयमी-जीवन बनाए रखने की वृत्ति (स्थूल वृत्ति) भले ही करुणा की हो, धर्म या पुण्य का निमित्त नहीं बनती।

१४ वस्तु और व्यक्ति के साथ जिस रूप मे हमारी वृत्ति जुड़ती है, उसी रूप मे उसके पीछे हमारे सूक्ष्म सस्कार सक्रिय रहते हैं। इसलिए प्रत्येक क्रिया के मूल्याकन मे वस्तु और वृत्ति के सम्बन्ध को भुलाया नही जा सकता। जो बात वस्तु के लिए है, वही व्यक्ति के लिए होगी। वस्तु जैसे धर्म-अधर्म नही होती, वैसे व्यक्ति भी दूसरे के लिए धर्म-अधर्म नही होता। वस्तु के साथ जैसे धर्म-अधर्म के रूप मे वृत्ति जुडती है, वैसे ही व्यक्ति के साथ भी वह धर्म-अधर्म के रूप मे जुडती है। वृत्ति सामने रहे व्यक्ति के अनुसार नही बनती, वह निजी सस्कारो के अनुसार बनती है। जिस व्यक्ति के प्रति मनुष्य के जैसे सस्कार होते है, उसके प्रति वैसे ही सस्कार, वैसी ही वृत्ति बन जाती है। अपना साथी और भिखमगा दोनो एक ही बीमारी के शिकार हैं। साथी को देखकर समवेदना की वृत्ति बनेगी और भिखमगे को देखकर करुणा की। साथी के प्रति समानता के सस्कार बधे हुए होते है और भिखमगे के प्रति दीनता के। वृत्ति के साथ-साथ व्यक्ति का महत्त्व नही होता तो अपने साथी और परिवार के प्रति होने वाली समवेदना धर्म या पुण्य नही मानी जाती और हीन-दीन के प्रति होने वाली करुणा धर्म या पुण्य मानी जाती है, यह भेद क्यो ? वृत्ति या व्यक्ति से कोई लगाव न हो तो एक मा अपने बेटे को रोटी खिलाए, वह धर्म-पुण्य नही और भिखमगे को रोटी दे, वह धर्म-पुण्य—इस भेद का क्या कारण है ? अगर कहा जाए, बेटे के प्रति ममता की वृत्ति है और भिखमगे के प्रति करुणा की। ममता पाप है, करुणा धर्म, तो कहना होगा—बेटा भी भूखा है और भिखमगा भी। स्थिति समान है, दोनो भूखे हैं। फिर क्या कारण है कि एक के प्रति करुणा नही और दूसरे के प्रति है ? समाधान यही आता है कि बेटे का रोटी मे अधिकार है, भिखमगे का उसमे अधिकार नही, तो इसका अर्थ यह हुआ कि अधिकार-वचित व्यक्ति दीन होता है, दीन के प्रति करुणा की वृत्ति बनती है और वह धर्म-पुण्य कमाने की साधना है। यह सारी कल्पना धार्मिक तो क्या, सामाजिक भी नही लगती। सामाजिक भाई के प्रति होने वाली हीनता के सस्कार और उनसे उत्पन्न होने वाली करुणा क्या असामाजिक तत्त्व नही है ? समाज की दुर्व्यवस्था मे ये सस्कार बने और आगे चलकर धर्म-कर्म के साथ जुड गए। आज हीन-दीन के प्रति करुणा लाकर धर्म-पुण्य कमाने की भावना चल रही है। खैर, तत्त्व इतना ही है कि व्यक्ति के साथ जुडने पर हमारी वृत्ति का स्वरूप वैसा ही बनता है, जैसाकि वह व्यक्ति है। वृत्ति से जुडे हुए व्यक्ति को छोडकर कोरी वृत्ति का मूल्य नही आका जा सकता। अगर ऐसा होता तो चेतन-अचेतन पशु-पक्षी सभी को पवित्र वृत्ति से नमस्कार करने मे धर्म होता। विनयवाद का ऐसा अभिप्राय हो भी सकता है किन्तु व्यक्ति के गुणावगुण पर नमस्कार की अर्हता मानने वालों

द्वारा ऐसा नही माना जाता। इसलिए वस्तु, व्यक्ति और वृत्ति के समन्वित रूप को छोडकर किसी एक को ही शुद्ध-अशुद्ध के निर्णय का मानदण्ड नही बनाना चाहिए।

सयम और असयम की भेदरेखा

क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। व्यवहार मे हम प्रवृत्ति और उसके परिणाम को अत्यन्त भिन्न मानते है पर निश्चय-दृष्टि मे बात ऐसी नही है। दोनो साथ-साथ चलते है। कर्म या प्रवृत्ति से आत्मा के बधा होता है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ और शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्म बधता ही है किन्तु स्थूल रूप मे अशुभ प्रवृत्ति न करने पर भी 'अशुभ प्रवृत्ति का त्याग नही,' उस दशा मे भी अशुभ कर्म बधता है।

हिंसा करने वाला प्रवृत्ति रूप हिंसक कहलाता है। हिंसा की प्रवृत्ति न करने वाला किन्तु हिंसा का अत्यागी अविरति रूप हिंसक कहलाता है।[1] आचाराग की वृत्ति मे सूक्ष्म जीवो की हिंसा की चर्चा करते हुए बताया है—सूक्ष्म जीवो का वध नही किया जाता, वे मारे नही मरते, फिर भी तब तक उनके प्रति हिंसक भाव बना रहता है, जब तक उनके वध की निवृत्ति नही होती—हिंसा का सकल्प नही टूटता।

प्रवृत्ति रूप मे हिंसा निरन्तर नही होती। जब कोई हिंसा करता है, तभी होती है। अविरति रूप मे हिंसा निरन्तर होती है—तब तक होती है, जब तक हिंसा का त्याग नही होता, हिंसा का सकल्प, भाव या वृत्ति आत्मा से घुल नही जाती। यह तत्त्व आचार्य भिक्षु की वाणी मे यू है—

हिंसा री इवरत निरन्तर हुवै, हिंसा रा जोग निरन्तर नाहि।
हिंसा रा जोग तो हिंसा करै जदि, विचार देखो मन माहि॥

साधु और गृहस्थ मे बडा अन्तर यह होता है कि साधु के सर्वथा हिंसा की विरति होती है और गृहस्थ के सर्वथा विरति नहीं होती। साधु से प्रमादवश कहीं हिंसा हो जाए तो वह योग रूप—प्रवृत्ति रूप हिंसा होगी, अविरति रूप नही। गृहस्थ की हिंसा प्रवृत्ति-रूप होने के साथ-साथ अविरति-रूप भी होती है।

सयमी सावद्य या अशुभ योग की प्रवृत्ति न करे तो उसके कोई हिंसा नही होती। वह सर्वथा अहिंसक रहता है। गृहस्थ शुभ योग की प्रवृत्ति करते हुए भी पूरा अहिंसक नहीं बनता और इसलिए नही बनता कि उसके अशुभ प्रवृत्ति की अनुमोदना-रूप अविरति निरन्तर सत्ता मे रहती है। इसका फलित यह होता है कि जो सर्वथा अविरति का त्यागी है, वह सयमी है, जिसने अविरति का कुछ त्याग

---

१ भगवती १।१, सूत्रकृतांग २।४।२६

किया है और कुछ अविरति शेष है, वह सयमासयमी है। जिसके अविरति बिलकुल नही मिटी, वह असयमी है।

सयमी खाता है वह सयम है, लेता है वह सयम है, देता है वह संयम है। असयमी का खाना, लेना और देना—तीनो असयम हैं। तात्पर्य यह है कि विरति से पहले शरीर-पोषण की प्रवृत्तिया अहिंसक नही होती।

असयम का पोषण हिंसा का पोषण है। यह मोक्ष-मार्ग नही हो सकता। मोक्ष-मार्ग सयम है। सयमी छह काय या जीवनिकाय मात्र के प्रति सयम रखता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो—सर्व भूतो के प्रति जो सयम है, वह अहिंसा है। सयमी छह काय के प्रति सयत रहता है। या जो छह काय के प्रति सयत रहे, वही अहिंसक है।

असयम पोषण का अर्थ है—छह काय की हिंसा को प्रोत्साहन देना। यह वृत्ति छह काय के प्रति मैत्री, अहिंसा या दया कैसे हो सकती है ?

अहिंसा और हिंसा के निर्णायक कोण

प्राणी मात्र का जीवन सक्रिय होता है। क्रिया अच्छी हो चाहे बुरी, उसका प्रवाह रुकता नही। उसकी अच्छाई या बुराई का मानदण्ड भी एक नही है। जन-साधारण की और धार्मिको की परिभाषा मे मौलिक भेद रहता है, कारण कि जन-साधारण का दृष्टिकोण लौकिक होता है और धार्मिको का दृष्टिकोण आध्यात्मिक। लोक-दृष्टि से किसी भी क्रिया को नितान्त अच्छी या बुरी कहना एकमात्र दु साहस है। जन-साधारण की रुचि एव अरुचि पर नियत्रण करना शक्ति से परे है। 'विभिन्नरुचयो लोका '—यह सिद्धान्त तथ्यहीन नही है। लोक-मत मे परिस्थितियो के उतार-चढाव का आवेग होता है। उसके अनुसार रुचि-अरुचि मे भी परिवर्तन आ जाता है। सामान्य स्थिति मे प्रत्येक मनुष्य की रक्षा करना धर्म माना जाता है। युद्धकाल मे शत्रुओ की हत्या करना परम धर्म माना जाता है। लोक-रुचि मे आपत्ति-काल, स्वार्थ, ममत्व, अज्ञान, आवेश, मोह—ऐसे और भी अनगिनत कारण अहिंसा के स्वरूप-विकृति के हेतु बनते हैं। आपत्ति-काल मे हिंसा अहिंसा बन जाती है। मोह होता है और उसे दया का रूप दिया जाता है। अज्ञान-वश बहुत सारे लोग हिंसा और अहिंसा का स्वरूप भी नही समझ पाते।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण के सामने रुचि एव अरुचि का प्रश्न ही नही उठता, उसमे वस्तु-स्थिति का अन्वेषण करना होता है। जब अच्छाई और बुराई का मान-दण्ड रुचि-अरुचि नही रहता तब हमे उसके लिए एक दूसरा मानदण्ड तैयार करना पड़ता है। फिर उसके द्वारा हरेक काम की अच्छाई और बुराई को मापते हैं। वह

मापदण्ड है सयम और असयम। दूसरे शब्दो मे कहे तो त्याग और भोग। इसके अनुसार हम सयममय क्रिया को अच्छी कहेगे और असयममय क्रिया को बुरी। दार्शनिक पडितो के शब्दो मे अच्छी क्रिया को असत्-प्रवृत्ति-निरोध और सत्प्रवृत्ति तथा बुरी क्रिया को असत्-प्रवृत्ति कहना होगा। असत्-प्रवृत्ति का नाम हिंसा है। असत्-प्रवृत्ति के द्वारा प्राण-वध किया जाता है या हो जाता है, वह भी हिंसा है।[1]

ऊपर की कुछ पक्तियो मे हिंसा का स्वरूप बताया गया है। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जो असत्-प्रवृत्ति का निरोध है, सत्-प्रवृत्ति है, वह अहिंसा है।

वस्तुओ का स्वरूप देखने के लिए जैन आचार्यों ने निश्चय और व्यवहार, इन दो दृष्टियो का उपयोग किया है। व्यवहार-दृष्टि वस्तु का बाहरी स्वरूप देखती है और निश्चय-दृष्टि उसका आन्तरिक स्वरूप। व्यवहार-दृष्टि मे लौकिक व्यवहार की प्रमुखता होती है और निश्चय-दृष्टि मे वस्तु-स्थिति की। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार प्राण-वध हिंसा है और प्राण-वध नही होता वह अहिंसा है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार असत्-प्रवृत्ति यानी राग-द्वेष-प्रमादात्मक प्रवत्ति हिंसा है और सत्-प्रवृत्ति अहिसा है। इन (दृष्टियो) के आधार पर हिंसा-अहिसा की चतुर्भंगी बनती है। जैसे—

१ द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा।

२ द्रव्य हिसा और भाव-अहिंसा।

३ द्रव्य-अहिंसा और भाव-हिंसा।

४ द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिसा।

राग-द्वेष-वश होने वाला प्राण-वध द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा है। जैसे—एक शिकारी हिरण को मारता है, यह द्रव्य यानी व्यवहार मे भी हिंसा है, क्योकि वह हिरण के प्राण लूटता है और भाव यानी वास्तव मे भी हिंसा है, क्योकि शिकार करने मे उसकी प्रवृत्ति असत् होती है। राग-द्वेष के बिना होने वाला प्राण-वध द्रव्य-हिंसा और भाव-अहिंसा है। जैसे—एक सयमी पुरुष सावधानीपूर्वक चलता-फिरता है तथा आवश्यक दैहिक क्रियाए करता है, उसके द्वारा अशक्य परिहार कोटि का प्राण-वध हो जाता है, वह व्यवहार मे हिंसा है क्योकि वह प्राणी की मृत्यु का निमित्त बनता है और वास्तव मे अहिंसा है, हिंसा नही है, क्योकि वहां उसकी प्रवृत्ति राग द्वेषात्मक नही होती। राग-द्वेषयुक्त विचार से अप्राणी पर घात या प्रहार किया जाता है, वह द्रव्य अहिंसा और भाव-हिंसा है। जैसे—कोई व्यक्ति धुधले प्रकाश में रस्सी को साप समझकर उस पर प्रहार करता है, वह व्यवहार मे अहिंसा है, क्योंकि उस क्रिया में प्राण-वध नहीं होता और निश्चय में

१ जैन सिद्धान्त दीपिका ७।५

हिंसा है, कारण कि वहा मारने की प्रवृत्ति द्वेषात्मक है। जहा न राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति होती है और न प्राण-वध होता है, वह सर्व सवर रूप अवस्था द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा है। यह अवस्था दैहिक और मानस क्रिया से निवृत्त तथा समाधि-प्राप्त योगियों की होती है। भाव-अहिंसा की पूर्णता सयम जीवन में प्राप्त हो जाती है किन्तु द्रव्य-अहिंसा की अवस्था दैहिक चचलता छूटे बिना, दूसरे शब्दों मे समाधि-अवस्था पाए बिना नही आती।

प्राणातिपात (प्राण-वध)

आत्मा अमर है। उसकी मृत्यु नही होती। यह सर्व-साधारण मे प्रसिद्ध है पर तत्त्व-दृष्टि से यह चिन्तनीय है। आत्मा एकान्त-नित्य नही परिणामिनित्य है अर्थात् उत्पाद-व्यय सहित नित्य है। केवल आत्मा ही क्या विश्व के समस्त पदार्थों का यही स्वरूप है। कोई भी पदार्थ अपने रूप का त्याग न करने के कारण नित्य है और नाना प्रकार की अवस्थाओ को प्राप्त होते रहने के कारण अनित्य है। या यों कहिए— द्रव्य रूप मे सब पदार्थ नित्य है और पर्याय रूप मे अनित्य। नित्य का फलितार्थ है—अपने रूप को न त्यागना। अनित्य का फलितार्थ है—क्रमश एक-एक अवस्था को छोडते रहना और दूसरी-दूसरी अवस्था को पाते रहना। आत्मा अपने स्वरूप को नही छोडती, अत नित्य है, अमर है और एक शरीर को छोड दूसरे शरीर को जाती है—इत्यादि अवस्थाओ से अनित्य है—उसकी मृत्यु होती है। आत्मा की प्राण-शक्तियो का शरीर के साथ सम्बन्ध होता है, उसका नाम जन्म है और उनका शरीर से वियोग होने का नाम मृत्यु है। जन्म और मृत्यु— ये दोनो आत्मा की अवस्थाए हैं। मृत्यु से आत्मा का अत्यन्त नाश नही होता। केवल उसकी अवस्था का परिवर्तन होता है—

'जीव जीवे अनादि काल रो,
मरे तिणरी हो पर्याय पलटी जाण।'

इसलिए प्राणो का वियोग होने से आत्मा की मृत्यु कहने मे हमें कोई भी सकोच नही होना चाहिए। प्राण-शक्तिया दस है

१-५ पाँच इन्द्रिय-प्राण
६ मन-प्राण
७ वचन-प्राण
८ काय-प्राण
९ श्वासोच्छ्वास-प्राण
१०. आयुष्य-प्राण

निष्काम कर्म और अहिंसा

अहिंसा के सम्बन्ध मे निष्काम कर्म एक व्यामोहक वस्तु बन रहा है। कितनेक व्यक्तियो का विचार है कि फल-प्राप्ति की आशा रखे बिना हम जो कोई काम करते है, वह अहिंसा ही है। पर सच तो यह है कि चाहे कार्य निष्काम-फल-प्राप्ति की इच्छा-रहित हो, चाहे सकाम—फल-प्राप्ति की इच्छा-सहित जिसमे प्रत्यक्ष या परोक्ष मे हिंसा छिपी हुई रहती है, वह काम हिंसात्मक ही है। यह क्या कोई युक्ति की बात है कि मनुष्य अपनी सुविधा के लिए जो कोई भी हिंसायुक्त कार्य करता है, वह तो हिंसात्मक मान लिया जाता है और वही काम वही मनुष्य यदि दूसरो की सुविधा के लिए करता है, वह अहिंसात्मक हो जाता है। हिंसात्मक काम हिंसात्मक ही रहेगा, चाहे वह अपने लिए किया जाय या दूसरो के लिए। यह भी नही कहा जा सकता कि व्यक्तिगत कार्यों मे स्वार्थ रहता है और समष्टि मे स्वार्थ नही रहता। खैर, दो क्षण के लिए स्वार्थ न भी मानें अर्थात् लौकिक दृष्टि से परमार्थ मान लें तो भी इसका हल नही निकलता। क्योकि हिंसा का सम्बन्ध केवल स्वार्थ से ही तो नही, राग, द्वेष, मोह, व्यामोह आदि अनेक भावनाओ से उसका सम्बन्ध रहता है। जैसे व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागकर अपने राष्ट्र की स्थिति को अनुकूल बनाने के लिए कोई यह उचित समझे कि जितने बच्चे जन्मते है, उनमे से आधे मरवा दिए जाए। राष्ट्र के सुधार की ऐसी भावना से वह ऐसा करने मे सफल भी हो जाता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उक्त कार्य न तो राग से किया जाता है और न द्वेष से एव न व्यक्तिगत स्वार्थ से। वह केवल राष्ट्र को सुदृढ एव सुव्यवस्थित करने के लिए ही किया जाता है, इसलिए यह सब निष्काम सेवा की परिधि मे आ जाता है। इस प्रकार और भी अनेक कार्य है जो कि समष्टि की सुविधाओ के लिए किए जाते है और उन्हे निष्कामता की सीमा मे घुसेडकर अहिंसात्मक बताया जाता है परन्तु जिन कार्यों मे प्रत्यक्ष रूप से हिंसा के कारण विद्यमान है, वे काम न तो निष्कामता की कोटि मे समाविष्ट किए जा सकते है और न अहिंसा की कोटि मे।

जैन सिद्धान्तो मे भी निष्कामता का विधान है पर वह है धार्मिक क्रिया के सम्बन्ध मे। धार्मिक क्रिया का जितना उपदेश है, उसके साथ-साथ यह बताया गया है कि 'धर्म केवल आत्म-शुद्धि के लिए करो। ऐहिक या पारलौकिक सुखो के लिए नही।' धार्मिक क्रिया के साथ पौद्गलिक सुखो की इच्छा करना 'निदान' नाम का दोष है। इस सम्बन्ध मे यह एक खास ध्यान देने की बात है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष मे राग, द्वेष, स्वार्थ आदि भावनाओ से मिश्रित जितने भी काम हैं, उनको

अधिक आसक्ति या कम आसक्ति से किए जाने से उससे होने वाले बन्धन मे अन्तर अवश्य आ जाता है, पर वे बन्धन से मुक्त करने वाले नही हो सकते। जैसे—एक हिंसात्मक काम को दो व्यक्ति करते है। एक उसे अधिक आसक्ति से करता है और दूसरा उसे कम आसक्ति से। अधिक आसक्ति से करने वाले के कर्म का बन्धन दृढ होता है और कम आसक्ति से करने वाले के शिथिल। पर यह नही हो सकता कि कम आसक्ति से हम जो कुछ भी करते हैं, उसमे कर्म का बन्ध होता ही नही।

सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह निर्णय होता है कि जो काम हम करते है, वह यदि पूर्वोक्त भावनाओ से मिश्रित है तो उसमे आसक्ति रहेगी ही—चाहे अधिक मात्रा मे, चाहे कम मात्रा मे, चाहे व्यक्त रूप मे, चाहे अव्यक्त रूप मे। अधिक आसक्ति वाला अहभावना से लिप्त रहता है और वह उससे मुडना भी नही चाहता। किन्तु कम आसक्ति वाला यह समझता है कि मैं जो कुछ भौतिक सुख-वर्धक काम करता हू, वह मुझे करता पडता है क्योकि मैं अभी तक बन्धन से छुटकारा नही पा सका हू। इसका तत्त्व यही है कि जो कार्य असयम को पुष्ट करने वाला अर्थात् भोगी-जीवन का सहायक है, वह चाहे कैसी भी भावना से क्यो न किया जाए, उसमे हिंसा तो रहेगी ही। भोगी-जीवन का अर्थ सिर्फ अब्रह्मचारी जीवन ही नही है। जो मनुष्य अपने शरीर को सुख देने के लिए या उसे टिकाए रखने के लिए किसी भी प्रकार की हिंसा करता है, उसका जीवन भोगी-जीवन कहलाता है। अत यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि निष्कामता का सम्बन्ध अहिंसात्मक कार्यों से ही है। हिंसात्मक कार्यों मे निष्कामता का प्रयोग नही हो सकता। निष्कामता अहिंसा की उपासना करने का साधन है। अहिंसा का अनुशीलन किसी प्रकार के भौतिक सुखो के फल की आशा रखे विना ही करना चाहिए। यही निष्कामता का सच्चा प्रयोग है।

५

सुखवादी दृष्टिकोण

वर्तमान दृष्टिकोण मुख्यतया प्रत्यक्षपरक है। आज के अधिकाश आस्तिक और नास्तिक, आत्मवादी या अनात्मवादी के दृष्टिकोण मे कोई भेद नही लगता। दोनो दृष्टिया सिर्फ वर्तमान को सुखी बनाने तक सीमित हैं, इसलिए सब व्यावहारिक दर्शन चाहते है। आध्यात्मिक दर्शन उन्हे अव्यावहारिक जैसा लगता है। वे प्रत्येक वस्तु को समाज की उपयोगिता की दृष्टि से आकते है। उनकी दृष्टि का एकमात्र केन्द्र समाज की वर्तमान सुख-सुविधा है। वह जिससे बढे, वह दर्शन अच्छा और जिससे वह न बढे, वह दर्शन किस काम का है? यह दृष्टिकोण रहते उन्हे अध्यात्म-दर्शन की परिभाषाए अटपटी लगे तो आश्चर्य नही होना चाहिए।

आत्मवादी दृष्टिकोण

(१) **त्राण** लोकवाणी या व्यवहार की भाषा मे जहा माता-पिता और सगे-सम्बन्धी त्राण माने जाते है, वहा अध्यात्म-वाणी उन्हे त्राण नही मानने की सीख देती है। देखिए—

नाल ते तव ताणाए वा सरणाए वा,
तुमपि तेसि नाल, ताणाए वा सरणाए वा ॥[1]

—पारिवारिक तुझे त्राण नही दे सकते। तू भी उन्हे त्राण नही दे सकता।

वित्त पसवो य नाइओ, ते बाले सरण ति मन्नइ।
एते मम तेसु वि अह, नो ताण सरण न विज्जइ ॥[2]

—अज्ञानी व्यक्ति धन, पशु और ज्ञाति को शरण मानता है किन्तु वे त्राण

---

१ आचारांग १।२।७७
२ सूत्रकृतांग १।२।३।१६

नही होते।

एगस्स गती य आगती, विदु मता सरण ण मन्नइ।[1]

—प्राणी अकेला आता है और जाता है, इसलिए विद्वान् किसी को शरण नही मानता।

(२) **दु:ख-मुक्ति** लोकवाणी मे दु ख-मुक्ति का उपाय है—परिग्रह। अध्यात्मवाणी मे उसका उपाय आत्म-निग्रह ही है

अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि।[2]

—आत्मा का निग्रह कर, इस प्रकार दु ख से मुक्ति मिलेगी।

(३) **व्यक्ति-प्रधान स्थिति** लोकवाणी मे समाज-प्रधान स्थिति है, वहा अध्यात्मवाणी व्यक्ति को ही प्रधान बतलाती है

जाणित्तु दुक्ख पत्तेय साय।[3]

—सुख-दु ख अपना-अपना होता है।

अन्नस्स दुक्ख अन्नो न परियाय इति,
अन्नेण कड अन्नो न पडिसवेदेति॥

पत्तेय जायति, पत्तेय मरइ, पत्तेय उववज्जइ, पत्तेय झझा, पत्तेय सन्ना, पत्तेय पन्ना, एव विन्नू वेदणा।[4]

—दूसरे का दु ख दूसरा नही समझता। दूसरे के किए हुए कर्म का दूसरे को सवेदन नही होता। व्यक्ति अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, च्यवन और उत्पत्ति भी अकेले की होती है। कलह, सज्ञा, प्रज्ञा, विज्ञान और वेदना—ये सभी प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग होते है।

(४) **मातृ-पितृ-स्नेह** लोकवाणी माता-पिता के प्रति स्नेह उत्पन्न करती है। अध्यात्मवाणी उस स्नेह को बन्धन बताती है या उसे वास्तविक सम्बन्ध नही बताती

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ।[5]
का ते कान्ता कस्ते पुत्र।[6]

---

१. सूत्रकृतांग १।२।३।१७
२ आचारांग १।३।६४
३. वही १।२।२२
४. सूत्रकृतांग २।१
५ वही, २।१।१।३
६. मोहमुद्गर ८

—माता-पिता के स्नेह मे बधा व्यक्ति मूढ बन जाता है। कौन तेरी स्त्री है और कौन तेरा पुत्र ?

अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

अध्यात्मवादी इस 'अति' को श्रेयस्कर नही मानता। यह सही है कि समाज की आवश्यकताओ को भुलाया नही जा सकता किन्तु उन्ही को सब कुछ मानकर चले, वह कैसा आत्मवादी ! समाज की अपनी मर्यादा है और धर्म या अध्यात्म की अपनी। दोनो को एक ही मानकर चले, वह भूल है। समाज मे विवाह की मर्यादा है किन्तु अध्यात्मवाद ब्रह्मचर्य से हटकर विवाह करने को कब अच्छा मानेगा ? उसकी ब्रह्मचर्य ही प्रतिष्ठा है। समाज-व्यवस्था मे यथावकाश हिंसा भी क्षम्य है, असत्य भी प्रयुज्य है, चोरी भी व्यवहार्य है, धन सग्रह भी स्वीकार्य है। अध्यात्मवाद कभी, कही और किसी भी स्थिति मे हिंसा को क्षम्य नही मानता। असत्य, चोरी और धन-सग्रह के लिए भी ऐसा ही समझिए। समाज के पास न्याय या दण्ड की व्यवस्था है और अध्यात्मवाद के पास है, अहिंसा और उपदेश या हृदय-परिवर्तन। न्यायाधीश अपराधी को मौत की सजा देता है, यह समाज का न्याय है। अध्यात्मवाद कहता है—यह हिंसा है। दण्ड-विधान के अनुसार वह उचित है तब हिंसा क्यो ? ऐसा प्रश्न आता है किन्तु किसी एक को दण्ड देने का किसी दूसरे को अधिकार है—यह तत्त्व अध्यात्मवाद स्वीकार ही नही करता। पाप करने वाला ही यदि हृदय से चाहे तो पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है, दूसरा पाप का दण्ड देने वाला कौन ? समाज पाप को नही धो सकता, प्रायश्चित्त नही करा सकता। वह पापी को कष्ट दे सकता है, बुरे को बुराई का स्वाद चखा सकता है, इसमे कोई विवाद नही। न्याय और दण्ड-विधान समाज के धारक या पोषक तत्त्व है। अध्यात्मवाद इन्हे क्यो माने, वह अपना प्राण लूटने वाले को भी मित्र मानने की बात जो कहता है। न्याय और दण्ड-विधान समाज की देश, काल, स्थिति के अनुकूल इच्छापोषित विचारधारा है। अहिंसा सार्वभौम है। इसलिए दोनो एक हो भी कैसे ?

विकट परिस्थितियो मे समाज हिंसा को क्षम्य मानता है। धर्म की भाषा मे वह अनिवार्य हिंसा है। किन्तु विकट परिस्थिति मे हुई हिंसा अहिंसा होती है, यह कभी नही हो सकता। इस विषय पर महात्मा गाधी के विचार मननीय हैं। वे एक प्रश्न के उत्तर मे लिखते हैं

'उचित यह है कि सत्य के बलिदान पर किसी का हित साधने का मेरा कर्तव्य नही, सत्य का पालन ही सर्व का अत्यन्त हित है, ऐसा निश्चय कर

उसका आग्रह रख पालन करे। वैसा करने वाले मनुष्य को ऐसी विकट परिस्थिति उत्पन्न हो तब क्या करना, यह उसे अपने आप सूझ पड़ेगा। वास्तविक विकट प्रसग मे कोई मनुष्य इस तरह असत्य का व्यवहार करता है। समाज तो उसे उदारता से क्षमा दे देता है। धर्म का सूक्ष्म जानकार भी उसकी विकट परिस्थिति का विचार कर इसके प्रति क्षमा-बुद्धि से देखेगा, परन्तु उसने धर्म का आचरण किया अथवा ऐसे प्रसग पर झूठ बोलना धर्म है—ऐसा नही कहेगा।

धर्म तो ऐसा ही कहता है कि प्राण देकर भी सत्य रखना चाहिए, सत्य की अपेक्षा दूसरे किसी को प्रथम स्थान नही दिया जा सकता।[1]

व्यक्ति या समाज को अपनी आवश्यकताए पूरी करनी पडती है—यह मानना स्वाभाविक है, किन्तु आवश्यकता-पूर्ति को मोक्ष-धर्म या अहिंसा मानकर बरता जाए—यह दोहरा पाप है।

युग प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव ने समाज और राज्य की व्यवस्था की। लोगो को उनका तत्त्व समझाया। उनके निर्वाह और प्रेयस् के लिए असि, मषि और कृषि की शिक्षा दी। क्या उन्होने इसे मोक्ष-साधना मानकर किया? नही। फिर प्रश्न होगा—कर्म-बन्धन जानते हुए उन्होने ऐसा क्यो किया? प्रजा के हित के लिए किया। प्रजा के नेता थे, इसलिए अपना कर्तव्य या दायित्व समझते हुए किया। इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है[2]—

एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकम्पया।
स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मन ॥

यह व्यवस्था-प्रवर्तन सावद्य—सपाप है, फिर भी भगवान् ऋषभदेव ने अपना कर्तव्य जानकर इसका प्रवर्तन किया। यह कोई नई बात नही है। निम्न पक्तियो मे यही प्रश्न महात्मा गाधी के सामने आया। उन्होंने वही समाधान किया, जो कि एक अहिंसा के मर्म को समझने वाला कर सकता है।

प्रश्न यदि अहिंसा ही धर्म है और हिंसा धर्म नही तो खाना-पीना किसलिए? मर ही क्यो नही जाना चाहिए?

उत्तर यदि किसी के चित्त मे अहिंसा इतनी एकरस हो जाए तो देह रखने के प्रति उदासीनता आए और वह उसे छोड देना चाहिए, यह अशक्य नहीं। पर ऐसा सामान्य तौर पर मन से होता नही। कारण कि जहां तक जीवन मे कुछ करने की, प्राप्त करने की और जानने की आशा और इच्छा रहती है, तब तक देह को

---

१ अहिंसा-विवेचन, गुजराती से अनूदित
२ त्रिशष्टि शलाका पुरुषचरित १।२।९७१

टिकाए रखने की इच्छा भी काम करती है। अर्थात् धार्मिक पुरुष भी हिंसा और अहिंसा के बीच मर्यादा बाधकर ही सन्तोष मानता है, पूर्णरूप से अहिंसा का पालन नही कर सकता।[1]

अध्यात्म-दर्शन जिन कार्यों को हिंसामय बताता है, उन्ही को समाज अपनी परिधि मे निर्दोष मानकर उन्हे करता है। इस सामाजिक आरोपवाद को महात्मा गाधी ने बडे सुन्दर ढग से समझाया है कि 'निरामिष आहारी वनस्पति खाने मे हिंसा है' यह जानता हुआ भी निर्दोषता का आरोपण कर मन को फुसलाता है।[2]

अनिवार्य हिंसा का कटु सत्य रूप रखते हुए वे लिखते है—"यह बात सच है कि खेती मे सूक्ष्म जीवो की अपार हिंसा है। कार्य मात्र, प्रवृत्ति मात्र, उद्योग मात्र सदोष है।"

—'खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नही जाता है।'[3]

असयमी दान, मोह-दया, सासारिक उपकार आदि-आदि सभी लौकिक विधियो को इसी दृष्टि से तोलना होगा। समाज के लिए जो अनिवार्य है, वे होगे जरूर किन्तु वे अनिवार्य होने मात्र से अहिंसा धर्म नही बन सकते।

आचार्य भिक्षु ने समाज की अनिवार्य स्थितियो को समझाते हुए सिर्फ यही बताया कि 'सामाजिक आवश्यकता या अनिवार्यता को ससार का मार्ग समझो और दया—अहिंसा को मोक्ष का मार्ग।'

हमे समाज और अध्यात्म के तत्त्वो और दृष्टि-बिन्दुओ को भिन्न-भिन्न मानते हुए चलना चाहिए। मार्ग साफ रहेगा। दोनो को एक मानकर चले तो उलझन आएगी और अनात्मवाद बढेगा। इसलिए बढेगा कि अध्यात्मवाद ससार का विरोधी है और समाजवाद ससार का पोषक। समाजवाद यह पसन्द नही करेगा कि अध्यात्मवाद उसकी व्यवस्था मे बाधा डाले। इसलिए वह उसे तोडकर अकेला रहना चाहेगा। उचित यह है कि दोनो अपनी-अपनी मर्यादा मे रहे, समाज के लिए दोनो का उपयोग है। ससार मे रहने और सुख से जीने के लिए समाज का उपयोग है, शान्ति और समता की प्रतिष्ठा के लिए अध्यात्मवाद चाहिए। जिस प्रकार प० नेहरू कहते थे—साम्यवाद और जनतत्र दोनो एक साथ रह सकते हैं, वैसे ही हमे कहना चाहिए—अध्यात्मवाद और समाजवाद दोनो एक साथ रह सकते हैं। रूप दोनो के दो होगे, भाषा दोनो की दो होगी और भाव दो होगे, फिर भी

१. अहिंसा-विवेचन, गुजराती से अनूदित।
२ व्यापक धर्म-भावना, पृ० ३०८
३ अहिंसा-प्रभावना, पृ० ३५,३६

विरोध नही होगा। समाजवाद अध्यात्मवाद की बहुत सारी मर्यादाओ को अव्यवहार्य मानता है। अध्यात्मवाद समाजवाद की मर्यादाओ को हिंसाविद्ध देखता है। यह उनका अपना-अपना दृष्टिकोण है।

अध्यात्मवाद समाजवाद को मिटाने की सोच नही सकता क्योकि उसके पास दण्ड-विधान नही है। बल-प्रयोग को वह हिंसा और हिंसा को सर्वथा वर्जनीय मानकर चलता है।

समाजवाद के पास विधि और दण्ड-विधान है, इसलिए वह कभी-कभी आगे बढ़ता है—अध्यात्मवाद को अनुपयोगी समझकर उसे मिटाने के मार्ग पर चलने का दम भरता है। यह अनुचित है और हिंसा शक्ति का दुष्परिणाम है। होना यह चाहिए कि दोनो के अनुयायी दोनो के दृष्टिकोण, भाषा और निरूपण को उनकी अपनी-अपनी मर्यादा समझकर भ्रम मे न फसे। यदि हम इस दृष्टि को लिए चलेंगे तो समाज हमारे धर्म को अनावश्यक या अनुपयोगी कहता है, वह हमे झुझलाएगा नही और हम समाज की प्रवृत्तियो को हिंसा, अधर्म या पाप कहते है, इससे समाज के पोषको को भी रोष नही होगा।

आचार्य भिक्षु ने अध्यात्म की भूमिका से अध्यात्म की भाषा मे कहा है—'मोह-दया पाप है, असयमी-दान पाप है।' तत्त्वत यह सही है। अध्यात्मवाद मोह की परिणति को दया कब मानता है? असयमी को भिक्षा के योग्य कब मानता है? जन साधारण ने तत्त्व नही पकडा, शब्द की आलोचनाए बढ चली।

मूल्याकन के सापेक्ष दृष्टिकोण

एक वस्तु के अनेक रूप होते है। अनेक को अनेक से देखे, दृष्टि सही होगी। एक से अनेक को देखे, सही तत्त्व हाथ नही आएगा। मानदण्ड भी सबके लिए एक नही होता। कोई भी वस्तु एक दृष्टि से अच्छी या बुरी, आवश्यक या अनावश्यक, उपयोगी या अनुपयोगी नही होती। ये सब सापेक्ष होते हैं। मोक्ष के लिए व्यापार का कोई उपयोग नही किन्तु समाज के लिए वह अनुपयोगी है, यह हम कैसे कहे। मोक्ष-धर्म के लिए धन अनावश्यक है किन्तु समाज के लिए आवश्यक नही, यह कौन मान सकता है? प्रवृत्ति के दो रूप होते है—अहिंसक प्रवृत्ति और हिंसक प्रवृत्ति। अध्यात्म-दर्शन की भाषा मे अहिंसा-प्रवृत्ति को शुभ योग और हिंसा-प्रवृत्ति को अशुभ योग कहा जाता है। शुभ योग के समय आत्मा पुण्य-कर्म से और अशुभ योग के समय आत्मा पाप-कर्म से बधती है। इसलिए उपचार से शुभ योग को पुण्य और अशुभ योग को पाप कहा जाता है।

समाज-दर्शन मे शुभ या अशुभ योग और पुण्य-पाप जैसी कोई व्यवस्था नही

है और इसलिए नही है कि समाज-दर्शन का मानदण्ड अहिंसा-हिंसा की दृष्टि से वस्तु को नही मापता। वह वस्तु का मान उपयोगी-अनुपयोगी की दृष्टि से करता है। जो वस्तु समाज के लिए उपयोगी है, वह अच्छी और जो उपयोगी नहीं, वह बुरी। समाज-दर्शन की भाषा मे समाज के लिए उपयोगी प्रवृत्ति को शुभ योग या पुण्य-कार्य और अनुपयोगी प्रवृत्ति को अशुभ योग या पाप-कार्य कहा जाएगा। अब आप सोचिए—दोनो का मानदण्ड एक नही है, तब दोनो की भाषा एक कैसे होगी? स्याद्वाद का रहस्य है—वस्तु को विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओ से परखना। एक ही वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य होती है। इस दशा मे दृष्टि-भेद से उसे नित्य-अनित्य दोनो कहना क्या कोई गूढ रचना या शब्दजाल है? समाज के लिए उपयोगी किन्तु राग, द्वेष, मोह, हिंसामय प्रवृत्ति को समाज की दृष्टि से शुभ योग यानी अच्छी प्रवृत्ति और अध्यात्म की दृष्टि से अशुभ योग कहा जाए, उसमे आपत्ति जैसी क्या बात है? कुछ समझ मे नही आता, कम-से-कम स्याद्वादी के लिए तो यह उलझन नही होनी चाहिए। स्याद्वाद का प्रयोग सीमित नही है। वह सिर्फ वस्तु को नित्य-अनित्य बताने के लिए ही नही है।

समाज मे बलवान् के लिए दुर्बल को मारना निर्दोष माना जाता है। चौंकिए मत, सही बात है। चूहो को मनुष्य मारता है, बन्दरो को मारता है और उन सब को मारता है, जो मनुष्य के स्वार्थ मे बाधक बनकर जीते हैं। मानो जीने का अधिकार केवल मनुष्य को ही है। समाज के प्रवर्तक मनुष्य के विरोधी तत्त्वो को मारने की अनुमति देते है, किन्तु वह मोक्ष का मार्ग नही है। 'सबल के लिए निर्बल को मारने को मोक्ष-धर्म बताते है, वे कुगुरु है, कुबुद्धि से चलने वाले है'—आचार्य भिक्षु ने यह तत्त्व बताया।[1]

समाज मे स्वार्थ-हिंसा भी चलती है। अपने छोटे-मोटे स्वार्थ के लिए मनुष्य छोटे-मोटे जीवो को मारता है। समाज-दर्शन इसे बुरा नही मानता। किन्तु यह मोक्ष-धर्म नही है। परार्थ हिंसा भी चलती है। एक आदमी दूसरे आदमी के लिए भी जीवो को मारता है। गरीबो को मारकर बडो को पोषण देने की प्रवृत्ति जो है, उसे धर्म बताना दोषपूर्ण है।[2]

बलात्कार अहिंसा नही है। हम हिंसक को जबरदस्ती अहिंसक नही बना सकते। हिंसक की आत्मा अहिंसा को स्वीकार नही करती, तब तक किसी देवता की भी ताकत नहीं कि उसे अहिंसक बना दे। उपाध्याय विनयविजयजी के शब्दो मे—'भगवान् महावीर जमालि को, जो उनका दामाद था और मिथ्यात्व के प्रचार मे जुट गया

१ अनुकम्पा की चौपई, दोहा ७।१
२ व्रताव्रत की चौपई, ७।४

था, नही रोक सके तो दूसरा कौन किसे रोक सकता है ? कौन किसे बलपूर्वक पाप से बचा सकता है ? अतुल बलशाली अरिहन्तो ने क्या बल-प्रयोग करके धर्म करवाया ? नही। किन्तु शुद्ध धर्मोपदेश दिया जिसे समझ-धारकर लोग ससार-समुद्र का पार पाते है।[१]

यही बात आचार्य भिक्षु ने कही—'तीर्थकर घर मे थे, तब उनमे तीन ज्ञान थे, राज्य-अधिकार भी था, फिर उन्होने अहिंसा-पालन की बलात् आज्ञा नही बरताई। बलात् हिंसा छुडाने मे यदि धर्म होता तो चक्रवर्ती बलपूर्वक छहखण्ड मे अहिंसा की घोषणा करा देते। किन्तु ऐसा न होता है और न उन्होने किया भी।'[२]

लोभ, लालच देना या परिग्रही बनाना भी अहिंसा नही है। देव, गुरु और धर्म—ये तीनो अपरिग्रही है। परिग्रह के द्वारा इन्हे मोल लेना चाहे, वह विपरीत दिशा है। परिग्रही स्वय बने या दूसरे को परिग्रही बनाए और किसी भी भावना से बनाए, वह मोक्ष मार्ग नही है।[३]

शौनकोपदेश और पद्मपुराण के अनुसार—'जिस व्यक्ति की धर्म के लिए धन की इच्छा हो, उसका इच्छा-रहित होना अच्छा है। कीचड को धोने की अपेक्षा दूर से उसको न छूना ही अच्छा है।'

ठीक यही तत्त्व इष्टोपदेश मे पूज्यपाद ने बताया है।

समाज की दृष्टि मे बल-प्रयोग का भी, परिग्रह का भी अपनी-अपनी जगह स्थान है, इसलिए हमे वस्तु-तत्त्व को परखने मे पूरी सावधानी बरतनी चाहिए। हिंसा-अहिंसा की परीक्षा करनी हो, वहा हमे अध्यात्म का मानदण्ड लेकर उसी की भाषा मे बोलना चाहिए और जहा उपयोगी-अनुपयोगी की परख करनी हो, वहा समाज का मानदण्ड और उसी की भाषा का व्यवहार करना चाहिए। आचार्य भिक्षु ने इसी को सम्यग् दृष्टि कहा है।[४]

१ शान्तसुधारस, १६।३-४
२ अनुकम्पा चौपई ७।४४,४६
३ वही ७।६४
४ वही ११।५२

६

अहिंसा का राजपथ . एक और अखण्ड

अहिंसा आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा है। वह एक और अखण्ड है। किन्तु मोह के द्वारा वह ढकी रहती है। मोह का जितना नाश होता है, उतना ही उसका विकास। इस मोह-विलय के तारतम्य पर उसके दो रूप निश्चित किए गए है—

१ अहिंसा महाव्रत,

२ अहिंसा-अणुव्रत।

इनमे स्वरूप-भेद नही, मात्रा (परिमाण) का भेद है।

मुनि की अहिंसा पूर्ण है, इस दशा मे श्रावक की अहिंसा अपूर्ण। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिंसा से मुक्त नही रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरण के रूप मे मुनि की अहिंसा बीस बिस्वा और श्रावक की सवा बिस्वा है। इसका कारण यह है कि श्रावक त्रस जीवो की हिंसा छोड सकता है, बादर-स्थावर जीवो की हिंसा को नही। इससे उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है—दस बिस्वा रह जाता है। इसमे भी श्रावक त्रस जीवो की सकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग करता है, आरम्भजा हिंसा का नही। अत इसका परिमाण उससे भी आधा अर्थात् पाँच बिस्वा रह जाता है। इरादेपूर्वक हिसा भी उन्ही त्रस जीवो की त्यागी जाती है, जो निरपराध है। साप-राध त्रस जीवो की हिसा से श्रावक मुक्त नही हो सकता, इससे वह अहिंसा अढाई बिस्वा रह जाती है। निरपराध त्रस जीवो की भी निरपेक्ष हिंसा को श्रावक त्यागता है, सापेक्ष हिंसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक (धर्मोपासक या व्रती गृहस्थ) की अहिंसा का परिमाण सवा बिस्वा रह जाता है। एक प्राचीन गाथा मे इसे सक्षेप मे कहा है—

जीवा सुहुमा थूला, सकप्पा आरम्भा भवे दुविहा।
सावराहा निरवराहा, सविक्खा चेव निरविक्खा॥

१. सूक्ष्मजीव-हिंसा।	५ सापराध-हिंसा।
२ स्थूलजीव-हिंसा।	६ निरपराध-हिंसा।
३. सकल्प-हिंसा।	७ सापेक्ष-हिंसा।
४ आरम्भ-हिंसा।	८ निरपेक्ष-हिंसा।

हिंसा के ये आठ प्रकार हैं। श्रावक इनमे से चार प्रकार की (२,३,६,८) हिंसा का त्याग करता है। अत श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है।

स्थावर-जीव-हिंसा

स्थावर जीव दो प्रकार के होते है

(१) सूक्ष्म, (२) बादर।

सूक्ष्म स्थावर इतने सूक्ष्म होते है कि वे किसी के योग से नही मरते। अतएव उनकी हिंसा का त्याग श्रावक को अवश्य कर देना चाहिए। श्रावक बादर स्थावर जीवो की सार्थ (अर्थ सहित) हिंसा का त्याग नही कर सकता। गृह-वास मे इस प्रकार की सूक्ष्म हिंसा का प्रतिषेध अशक्य है। शरीर, कुटुम्ब आदि के निर्वाहार्थ श्रावक को यह करनी पडती है, तथापि इनकी निरर्थक हिंसा का त्याग अवश्य करना चाहिए।

निरर्थिका न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञ , काक्षन्मोक्षमुपासक ॥

अर्थात् मोक्षाभिलाषी अहिंसा-मर्मज्ञ श्रावक को स्थावर जीवो की भी निरर्थक हिंसा नही करनी चाहिए। अहिंसा का धर्म सावधानी मे है, विभ्रान्ति मे नही।

जीवन की अविभक्ति और विभक्ति

जीवन सकुल भी है और असकुल भी।

जीवन अखण्ड या अविभाज्य है—स्याद्वाद की भाषा मे यह नही कहा जा सकता। उसका प्रवाह एक हो सकता है, किन्तु प्रवाह का बिन्दु एक ही नही होता। मैंने थोडे समय पहले एक निबन्ध मे लिखा था—"जीवन एकरस और धारावाही है। उसके टुकडे नही किए जा सकते—यह सच है किन्तु स्थूल-सूक्ष्म-सत्य की दृष्टि से जीवन चैतन्य के धागे से पिरोई हुई भिन्न-भिन्न मोतियों की माला है। उसकी प्रत्येक और प्रत्येक प्रकार की प्रवृत्ति उसे खण्ड-खण्ड कर डालती है। देश और काल उसे जुडा नहीं रहने देते। स्थितिया उसकी अनुस्यूति को सहन नही करतीं। भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो का क्षेत्र भले एक हो, उनका स्वरूप एक नही हो सकता।

एक व्यक्ति रोता भी है और हँसता भी है। रोने वाला और हँसने वाला व्यक्ति एक हो सकता है (वह भी स्थूल दृष्टि से) किन्तु रोना और हँसना एक नही हो सकता।"

जीवन सकुल है---यह सच है किन्तु जीवन की प्रवृत्तिया जो भिन्न-भिन्न देश-काल मे होती है और भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली है, वे सकुल नही होती। यह उससे कम सच नही है। इसलिए दोनो के समन्वय की भाषा मे यू कहना चाहिए कि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो के सगम की दृष्टि से जीवन सकुल है और उनके भिन्न-भिन्न स्वरूपो की दृष्टि से वह सकुल नही है।

जीवन की सीमाए कृत्रिम नही होती। उसको बाटने वाली रेखाए उसी के द्वारा खीची जाती है। उनमे से कुछ एक जो गम्य बनती है, वे शब्दो मे बध जाती है। उनके लौकिक और आध्यात्मिक जो भेद होते है, उनके पीछे दो दार्शनिक विचार है (१) ससार, (२) मुक्ति।

ससार का साधन (ससार की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति) लौकिक होती है और मुक्ति का साधन (मोक्ष की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति) आध्यात्मिक। ससार और मुक्ति की कल्पनाए जिन्हे मान्य है, उन्हे ससार और मुक्ति के साधनभी मान्य होने चाहिए। ससार और मुक्ति का स्वरूप एक नही है, इसलिए लौकिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति का स्वरूप भी एक नही होना चाहिए। व्यक्ति की दृष्टि से लौकिक जीवन की समाप्ति और बाद आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है — ऐसा नही जान पडता। किन्तु प्रवृत्ति के स्वरूप की दृष्टि से ऐसा होता भी है। लौकिक जीवन की प्रवृत्ति समाप्त होने पर आध्यात्मिक प्रवृत्ति शुरू होती है और आध्यात्मिक प्रवृत्ति समाप्त होने पर लौकिक प्रवृत्ति। दोनो के आदि-अन्त अपने आप मे समाए हुए हैं। दोनो का मिश्रण कही भी नही होता। साध्यो मे मिश्रण नही होता वे व्यावृत होते है, तब साधनो की व्यावृति कैसे नही होगी ? हमे वस्तु की कोटि का निर्णय उसके स्वरूप-विवेक द्वारा करना होगा, उसके लिए व्यक्ति को तोडना आवश्यक नही होता।

सामाजिक-दृष्टि और मोक्ष-दृष्टि

समाज की भूमिका मे अहिंसा का विकास सामाजिक उपयोगिता के स्तर पर हुआ। अध्यात्म की भूमिका मे उसका विकास हुआ समाज-निरपेक्ष भूमिका पर, आत्म-विकास की भित्ति पर। उसका लक्ष्य था देह-मुक्ति। इसलिए वह प्राणी मात्र को न मारने की मर्यादा से भी आगे बढ़ी। सूक्ष्म विचारणा मे अविरति और

क्रिया के सिद्धान्त तक पहुच गई। हिंसा की विरति नही करने वाला हिंसा नहीं करने पर भी हिंसक है।[1] अविरति प्राणी को अतीत शरीर की अपेक्षा से भी हिंसा की क्रिया लगती है।[2] पूर्ण विरति किए बिना प्रत्येक प्राणी का शरीर निरन्तर छह काय का अधिकरण—शस्त्र रहता है। यह ऐकान्तिक निवृत्ति का मार्ग है। समाज का आधार देह-दशा है। मोक्ष का स्वरूप है विदेह। देह का धर्म है प्रवृत्ति। निवृत्ति देह से विदेह की ओर जाने का मार्ग है। सामाजिक दृष्टि मे प्रवृत्ति की शुद्धि के लिए निवृत्ति भी मान्य है किन्तु है एक सीमा तक। मोक्ष-साधना का ध्येय है आत्यन्तिक निवृत्ति, शरीर से भी निवृत्ति। इसमे भी एक सीमा तक प्रवृत्ति मान्य है, किन्तु वही जो सयममय हो। अहिंसा सम्बन्धी सामाजिक दृष्टिकोण इस बिन्दु पर इससे भिन्न पड जाता है। आत्मिक-दृष्टि मे निवृत्ति का प्रभुत्व है, समाज-दृष्टि मे प्रवृत्ति का।

हिंसा और परिग्रह के बिना काम नही चलता किन्तु धर्म की मर्यादा को समझने वाले उनका अल्पीकरण करते है। इसलिए श्रावक को 'अल्पसावद्य कर्मार्य' कहा गया है।[3] असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन छहो कर्मों को करने वाले अविरत होते है, इसलिए उन्हे हिंसा-कर्मकारी कहा गया है।[4]

यही कारण है कि सर्व-विरति मुनि इनका उपदेश नही करते। हिंसात्मक कर्तव्य का उपदेश करने वाले मुनियो को कार्य की दृष्टि से गृहस्थो के समान कहा है।[5]

केवल समाज या प्रवृत्ति धर्म को ही मानने वालो को यह दृष्टि ग्राह्य न भी हो सके किन्तु मोक्ष की साधना, जो देह-निवृत्ति का लक्ष्य लिए चलती है, मे ऐसी मान्यता सहजतया फलित होती है।

मोक्ष को साध्य मानने वाले व्यक्ति भी गृहस्थ-दशा मे हिंसा, परिग्रह, अब्रह्मचर्य-सेवन आदि कर्म करते हैं। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का क्षेत्र-भेद है। निवृत्ति-धर्म को समझ लेना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात है। ज्ञानावरण और श्रद्धा-मोह का विलय होता है, तत्त्व सही रूप मे समझ मे आ जाता है। आचरण की बात अब भी शेष रहती है। आचरण सम्बन्धी मोह का विलय हुए बिना समझी हुई बात भी क्रियात्मक नहीं बनती। जिनके सर्व-विरति योग्य मोह-विलय नही होता, वे निवृत्ति-धर्म को मोक्ष का मार्ग समझते हुए भी

१ भगवती १६।१
२ प्रज्ञापना पद २२
३ तत्त्वार्थ भाष्य (उमास्वाति)
४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक (अकलक)
५ सूत्रकृतांग १।१।४।१

उसे अपना नही सकते । तात्पर्य कि उसका अगीकार मोह-विलय की मात्रा के अनुसार ही होता है। भगवान् ऋषभनाथ या कोई भी व्यक्ति हो, भोग्य कर्म सबको भोगने पडते है। उस समय प्रवृत्ति का द्वार खुला रहता है। मोह प्रबल होता है, तब अविरत-प्रवृत्ति मे आसक्ति अधिक होती है, वह कम होता है तब कम। प्रवृत्ति मोक्ष की साधक न हो तो ज्ञानी जन उसे क्यो करे—यह प्रश्न उक्त पक्तियो से स्वय स्पष्ट हो जाता है। ज्ञानी होना एक बात है और विरत होना दूसरी बात। ज्ञान और अविरति मे विरोध नही है, उनमे स्वरूप-भेद है—वे दो है। विरोध है अविरति और विरति मे। एक विषय की विरति और अविरति—ये दोनो एक साथ नही हो सकती। एक विषय की विरति और एक विषय की अविरति—ये एक साथ होती है। इसीलिए गृहस्थ श्रावक 'विरताविरति' या 'धर्माधर्मी' होता है। गृहस्थ की सयममय या विरतिपूर्ण क्रियाए ही मोक्ष की साधक है, शेष नही। आरम्भ या हिंसा करता हुआ व्यक्ति मुक्त नही होता।[1] मुमुक्षु को आखिर मुनि-धर्म स्वीकार करना ही पडता है।[2] गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी जो सुव्रती होते है, वे स्वर्ग पाते है।[3] कई भिक्षुओ से गृहस्थ सयम-प्रधान होते है। मुनि-धर्म को पालन करने वाले भिक्षु सब गृहस्थो से सयम-प्रधान होते है।[4]

मोक्ष-साधना के क्षेत्र मे गृहस्थाश्रम की अपेक्षा मुनि-धर्म का कितना महत्त्व है, वह इन्द्र और नमि राजर्षि की चर्चा से स्पष्ट है।

इन्द्र मुनि से कहता है—'आप अभी दान दे, श्रमणो और ब्राह्मणो को भोजन कराए, यज्ञ करे, फिर दीक्षा लेना।'

उत्तर मे मुनि कहते हैं—'जो व्यक्ति प्रतिमास लाखो गाए दान मे देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देने वाले का सयमाचरण श्रेष्ठ है।'

इन्द्र ने फिर कहा—'आप घोरआश्रम (गृहस्थ-जीवन) को छोडकर दूसरे आश्रम (मुनि-जीवन) मे जा रहे हैं, यह ठीक नही। आप इसी आश्रम मे रहकर धर्म को पुष्ट करने वाली क्रिया करें।'

राजर्षि ने कहा—'गृहस्थ-आश्रम मे रहने वाला व्यक्ति तीस-तीस दिन तक की तपस्या करे और पारणे मे कुश के अग्रभाग पर टिके उतना खाए, फिर भी वह

---

१ (क) सूत्रकृतांग २।२।३-६
  (ख) भगवती १७-२

२. भगवती ३।३

३ उत्तराध्ययन ५।२४ एव सिक्खा समावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं॥

४ वही ५।२० 'सति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था सजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो सजमुत्तरा॥

मुनि-धर्म की सोलहवी कला की भी बराबरी नही कर सकता।''[1]

इस प्रकार समझा जा सकता है—समाज और मोक्ष की दृष्टि और साधना सर्वथा एक नही है। समाज दृष्टि मे गृहस्थाश्रम का पूरा महत्त्व है। धर्म का महत्त्व वही तक है, जहा तक वह गृहस्थ-धर्म की बुराइयों को मिटाए। मोक्ष-दृष्टि मे मुनि जीवन का सर्वोच्च स्थान है। गृहस्थ-जीवन का महत्त्व उसके व्रतों तक ही सीमित है।

जो व्यक्ति इन दोनो के एकीकरण की बात सोचते हैं, वे इस तथ्य को भुला देते है कि स्वरूप-भेद मे एकता नही हो सकती। ये दोनो समानान्तर रेखाए हैं, जो साथ-साथ चलती है पर आपस मे मिलती नही।

सामाजिक भूमिका और अहिंसा

जैन-दर्शन के अनुसार गृहस्थ के विचारो का केन्द्र मुनि की तरह केवल धार्मिक क्षेत्र ही नही है, राजनैतिक एव सामाजिक क्षेत्र मे भी उसकी गति अबाध होती है। उसकी मर्यादा का उचित ध्यान रखे बिना उसके गृहस्थ सम्बन्धी औचित्य का निर्वाह नही हो सकता। अत गृहस्थ के कार्यक्षेत्र हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनो हैं। वर्तमान के राजनैतिक वातावरण मे अहिंसा को पल्लवित करने की चेष्टा की जा रही है। यह कोई नई बात नही। अहिंसा का प्रयोग प्रत्येक क्षेत्र मे किया जा सकता है। उसका क्षेत्र कोई पृथक्-पृथक् निर्वाचित नही, सर्वथा स्वतन्त्र है। सत्प्रवृत्ति और निवृत्ति मे उसका एकाधिकार आधिपत्य है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ मे भी अहिंसा प्रयोज्य है, खाने-पीने मे भी अहिंसा का विचार रखना लाभप्रद है पर हिंसा और अहिंसा का विवेक यथावत् होना चाहिए अन्यथा दोनो का मिश्रण लाभ के बदले हानिकारक हो जाता है।

भगवान् महावीर का श्रावक महाराज चेटक वैशाली गणतन्त्र का प्रधान था। वह अहिंसा-व्रती था। निरपराध जीवो के प्रति उसकी भावना मे दया का प्रवाह था। यह तो श्रावकत्व का सूचक है ही, किन्तु सापराध प्राणी भी उसके सफल बाण से एक दिन मे एक से अधिक मृत्यु का आलिंगन नही कर पाते थे। युद्ध मे भी उसे प्रतिदिन एक बाण से अधिक प्रहार करने का त्याग था। इतना मनोबल सर्व-साधारण मे हो सकता है, यह सम्भव नही। व्रत-विधान सर्व-साधारण को अहिंसा की ओर प्रेरित करने के लिए है। अत इसका विधान सार्वजनिकता के दृष्टिकोण से सर्वथा समुचित है। इसमे अहिंसा का परिमाण यह बताया गया है कि श्रावक निरपराध त्रस प्राणी (न केवल मनुष्य) को मारने की बुद्धि से नही मारता। यह

---

१ उत्तराध्ययन ९।३८, ४०, ४२, ४४

अहिंसा का मध्यम-मार्ग है। गृहस्थ के लिए उपयोगी है। इसमे न तो गृहस्थ के औचित्य-सरक्षण मे भी बाधा आती है और न व्यर्थ हिंसा करने की वृत्ति भी बढती है। यदि हिंसा का बिल्कुल त्याग न करे तो मनुष्य राक्षस बन जाता है और यदि वह हिंसा को सर्वथा त्याग दे तो गृहस्थपन नहीं चल सकता। इस स्थिति मे यह मध्यम-मार्ग श्रावक के लिए अधिक श्रेयस्कर है। इसका अर्थ यह नही कि गृहस्थ इस हद के उपरान्त हिंसा का त्याग कर ही नही सकता। यदि किसी गृहस्थ मे अधिक साहस हो, अधिक मनोबल हो तो वह सापराध और निरपराध दोनो की हिंसा का त्याग कर सकता है। पर सर्वसाधारण मे कहा इतना मनोबल, कहा इतना धैर्य और साहस कि वह अपराधी को भी क्षमा कर सके ? हिंसक बल के सामने अपने भौतिक अधिकारो की रक्षा कर सके ? नीति-भ्रष्ट लोगो से अपने स्वत्व को बचा सके ? अहिंसा का प्रयोग प्रधानत आत्मा की शुद्धि के लिए है। राज्य आदि कार्यों मे हिसा से जितना बचाव हो सके, उतना बचाव करे, यह राज-नीति मे अहिंसा का प्रयोग है। किन्तु जो बल आदि का व्यवहार होता है, वह हिंसा ही है।

सामाजिक और धार्मिक प्रवृत्ति का पृथक्करण क्यों ?

अमुक कार्य समाज या ससार का है और अमुक कार्य धर्म या मोक्ष का है, ऐसा विभाग क्यो ? समाज और धर्म सर्वथा अलग नही हो सकते। इसलिए इन्हे अलग अलग बाटने से बडी उलझन पैदा होती है—एक विचारधारा ऐसी भी है।

इस उलझन को मिटाने का एकमात्र उपाय नास्तिकवाद है। अनात्मवादी जीवन की वर्तमान कठिनाइयो से सबसे अधिक बच सकता है। उसे वर्तमान की उपयोगिता से आगे सोचने की जरूरत नही होती। आत्मवादी वर्तमान उपयो-गिता को ही जीवन का साध्य नही मानता, इसलिए वह आत्म-शुद्धि को जीवन का चरमसाध्य मानकर चलता है। उसका साधन है—अहिंसा।

जीवन हिंसा के बिना चलता नहीं, गृहस्थ को आवश्यक सुविधाए जो जुटानी पडती हैं। इसलिए वह अनावश्यक हिंसा से बचकर चलता है। यही समाज अहिंसा या आध्यात्मिकता की नीव पर सृष्ट समाज कहलाता है। अहिंसक समाज का यह अर्थ नही कि वह कुछ भी हिंसा नही करता किन्तु वह हिंसा को यथाशक्य छोडने का ध्येय रखकर चलता है। उसमे जितना वीतराग-भाव या माध्यस्थ्य होता है, वह अहिंसा है और जितना राग-द्वेष, मोह, अज्ञान है, वह हिंसा है। सामाजिक प्राणी अहिंसा का ध्येय रखते हुए भी दैहिक अनिवार्यता और राग-द्वेष की परा-धीनता के कारण हिंसा से छुटकारा नही पाता, इसलिए वह अहिंसा और हिंसा

के सगम मे चलता है। वह हिंसा न छोड सके, यह उसकी दुर्बलता है। उसे अहिंसा क्यो माना जाए ? प्रत्येक कार्य की परख होनी चाहिए। संसार को ससार और मोक्ष को मोक्ष समझना चाहिए। सासारिक कार्य मे अनासक्ति रहने मात्र से वह मोक्ष का नही बन जाता। हा, अनासक्ति के रहते बन्धन तीव्र नही होता, फिर भी सूक्ष्म राग के रहते सूक्ष्म बन्धन अवश्य होगा। बन्धन और मोक्ष का मार्ग एक हो नही सकता। इस दशा मे उन्हे एक मानने की भूल हमे नहीं करनी चाहिए।

समाज और मोक्ष की अलग-अलग धारणाए रहते हुए समाज का यथेष्ट विकास नही हो सकता—ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है। कारण यह है—सामाजिक प्राणी हिंसा और अहिसा का विवेक रख सकता है किन्तु हिंसा को सर्वथा छोड नही सकता, समाज की प्रतिष्ठा, मर्यादा और विकास की उपेक्षा नही कर सकता। इतिहास के पन्ने उलटिए। अहिंसा पर विश्वास रखने वाले मौर्य और गुप्त सम्राटो का काल भारत का स्वर्ण-युग कहा जाता है।

सामाजिक व्यक्ति समाज-विमुख नही हो सकता

दया-दान विषयक विचार-क्राति दया-दान के अति-रजित रूप का परिणाम है। सामाजिक प्राणी राग की परिणति से मुक्ति नही पा सकता, यह ठीक है किन्तु उसे धर्म या मोक्ष का मार्ग समझ बैठे, यह भूल है। ऐसी भूल हुई, इसीलिए आचार्य भिक्षु को उस पर कठोर प्रहार करना पडा।

वे समाज की मर्यादा को समझते थे। समाज में रहने वाला व्यक्ति समाज से विमुख बनकर रहे, यह उन्होंने नही बताया। उन्होने बताया—'समाज की आवश्यकताओ को, आपसी सहयोग, न्याय-वितरण, समान अधिकार, पौद्गलिक सुख-सम्पादन की विधियो को मोक्ष-मार्ग समझना भूल है।' वे समाज-विरोधी संस्कार डालने नही चले, समाज का अभ्युदय निश्रेयस् के नाम पर साधा जा रहा था, उसे मिटाने चले थे। उसमे वे सफल हुए। आज का युग उनकी देन को बडी महत्त्वपूर्ण मानता है।

सामाजिक दायित्व निभाने वाले नरक मे जाते है—यह उनका प्रतिपाद्य नहीं था। उनका प्रतिपाद्य सिर्फ इतना ही था कि यह सब मोक्ष की साधना नहीं है। सम्यग्-दृष्टि व्यक्ति सामाजिक दायित्व को निभाता हुआ भी नरकगामी नहीं होता। नन्दन मणियारा ने पुष्करणी बनवाई, इसलिए वह मेढक बना—यह कैसे कहा जा सकता है ? छह खण्ड का राज्य करने वाले सार्वभौम चक्रवर्ती और रण-चण्डी का खप्पर भरने वाला राजा और सैनिक उसी जन्म में सयमी बन मोक्ष जाते हैं। इस दशा में कुआं या पोखरणी बनाने मात्र से कोई नरक जाता है—यह कौन

मर्मज्ञ कहेगा? नन्दन मेढक इसलिए बना कि वह आरम्भ करता गया, उसमे मूच्छित रहा और आत्म-धर्म से मुह मोड बैठा। आत्म-धर्म के सिवा अगर कोई दूसरी वस्तु सद्गति का कारण होती तो नन्दन की ऐसी स्थिति नही बनती। बहुत सारे व्यक्ति लौकिक व्यवहार को ही धर्म-पुण्य मानकर आत्म-धर्म से परे खिसक जाते है, यह बड़ी भूल होती है। लौकिक व्यवहार गृहस्थ के लिए अनिवार्य है। आरम्भ करना गृहस्थ की कमजोरी है, किन्तु उसे धर्म समझना मोह की प्रबलता है। गृहस्थ को अनर्थ-हिंसा से अवश्य बचना चाहिए। व्यक्तिगत स्वार्थ या सामाजिक स्वार्थ के लिए होने वाली हिंसा, जिसे भगवान् महावीर ने अनर्थ-हिंसा कहा है, से व्यक्ति विवेकपूर्वक बचे—यह तथ्य है। भव-वैराग्य होगा तो वह हिंसा को छोडता चला जाएगा। आखिर साधु या सन्यासी भी बन जाएगा। वास्तव मे सही विरक्ति होनी चाहिए। वैयक्तिक स्वार्थ का भरपूर पोषण करने वाले सामाजिक स्वार्थ से बचने के लिए दम्भ भरें—यह सही नही लगता। 'गाय से दूध लूगा, किन्तु उसे घास नही डालूगा'—ऐसी अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति अहिंसा नही किन्तु अहिंसा के साथ मखौल है।

आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने यत्किंचित् कटु सत्य कहा है। वह भी लौकिक व्यवहार को तोडने के लिए नही किन्तु वस्तुस्थिति को यथार्थ रूप मे समझाने के लिए, दृष्टि को सम्यक् बनाने के लिए वैसा कहना पडा। लोगो ने प्रत्येक आवश्यक कर्तव्य पर धर्म की छाप लगा दी। उन्होने मान लिया कि पानी पिलाना धर्म है, रोटी खिलाना धर्म है, पैसा देना धर्म है। धर्म भी व्यवहार का नही मोक्ष का। यो क्या धर्म बाहर से टपक पडता है? धर्म का रूप विकृत बना दिया गया। कष्ट कौन सहे? त्याग-तपस्या कौन करे? ब्राह्मणो को भोजन करा दिया, जैनो ने दया पला दी—श्रावको को जिमा दिया, धारणा-पारणा करा दिया। वे धर्म करेंगे उसका हिस्सा, उसकी प्रेरणा या अनुमोदना उन्हे मिल जाएगी। ऐसी भ्रान्त धारणाए चल पडी। धर्म की मौलिक साधना—सत्य, सन्तोष, मैत्री, अपरिग्रह—दब गई और बाहरी आवरण उभर आया। ऐसी स्थिति मे कटु सत्य भी उपयोगी होता है। वह समाज-विरोधी सस्कारो को नही डालता किन्तु धर्म के नाम पर पलने वाले विकारी संस्कारो और आडम्बरो को उखाड फेंकता है। आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त को पढते समय उनके पारिपार्श्विक वातावरण को ध्यान मे रखना जरूरी है। उसको छोड़कर हम उनका दृष्टि-बिन्दु समझने मे पूर्ण सफल नही हो सकते।

सामाजिक कर्तव्य का आधार सामाजिकता

आचार्य भिक्षु लौकिक व्यवहार को तोडने का आग्रह नही रखते थे। उन्हे

वस्तुस्थिति को यथार्थ समझने का आग्रह था। एक जमाना ऐसा रहा जबकि सामाजिक दायित्व को निभाने के लिए समाज के नियमो को धर्म-पुण्य कहा गया ? आज का मनुष्य कर्तव्य के नाम पर आगे बढ गया है। वह समाज के दायित्व को सामाजिक कर्तव्य के रूप मे अधिक कौशल के साथ निभाता है। अथवा यू समझिए कि आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण एक नया प्रयोग है। उनके अनुयायी सामाजिक आवश्यकताओ को धर्म-पुण्य न मानते हुए भी कर्तव्य की दृष्टि से उन्हे पूरा करते हैं। सासारिक स्थितिया आत्मा को मुक्ति देने वाली नही है, फिर भी बन्धन मे फसे हुए व्यक्ति अपनी मर्यादा नही तोड सकते। इसलिए वे कर्तव्य-प्रेरित होकर उन्हें किया करते है। वर्तमान युग सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति धर्म-पुण्य के नाम पर नही किन्तु सामाजिक न्याय और अधिकार के स्तर पर करना सिखाता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो हीनता और उच्चता की भावना बनी, उसमे दान द्वारा पुण्य कमाने की धारणा प्रमुख है। भगवान् महावीर ने इसके विरुद्ध क्रान्ति की। सूत्रकृताग और आचाराग पढ जाइए, तथ्य सामने आ जाएगे। आचार्य भिक्षु ने उसी तथ्य का पुन प्रकाशन किया। लोग उसका मर्म समझ नही सके। उनके सस्कार वैयक्तिक जीवनवादी व्यवस्था के थे। इसलिए वे विचार सहजतया समझ मे न आए—इसमे आश्चर्य जैसा कुछ नही। सामाजिक साथियो को हीन-दीन रखकर उनके प्रति दया और परोपकार का व्यवहार करना—ये सब तथ्य वैयक्तिक जीवनवादी व्यवस्था के थे। इस युग मे जहा समानाधिकार का स्वर सफल हो रहा है, उनका निर्वाह करने की आवश्यकता नही रही। समाजवादी जीवन-व्यवस्था मे सबके साथ समानता की अनुभूति की जाती है। यह आमूल परिवर्तन है। एक हीन-दीन रहे और दूसरा उस पर दया कर धर्म-पुण्य कमाए—इसका कोई महत्त्व नही रहा। आज उसे महत्त्व दिया जाता है, जिसमे कोई हीन-दीन रहे ही नही।

सामाजिक व्यक्तियो की हीनता से उत्पन्न करुणा सचमुच समाज की दुर्व्यवस्था को चुनौती होती है। उसे धार्मिक रूप देने वाले प्रकारान्तर से दुर्व्यवस्था को प्रश्रय देते हैं। किसी युग मे यह भावुकता उपयोगी रही होगी, किन्तु अधिकार-जागरण के इस युग मे तो इसका कोई उपयोग नही दीख पडता। युग की परिवर्तित चेतना को समझने के लिए प्रोफेसर नगेन्द्रनाथ के विचार देखिए—'एक समय था जब सामाजिक कल्याण और परोपकार की भावना से प्रेरित होकर कुछ सामाजिक कार्यकर्त्ताओ ने अन्धो को सहायता और सुख पहुचाने के लिए उन्हें कुछ सिखाना-पढ़ाना शुरू किया था। समाज का बोझ हल्का करने के लिए उन्होने अधों के लिए विद्यालय और आश्रम भी खोले। लोक-चेतना के विकास और व्यापक जन-जागृति के कारण आज हर अन्धे बच्चे का शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार

माना जाने लगा है। अधिकांश सभ्य देशों में आज अन्धों की शिक्षा अनिवार्य है और सरकार तथा जनता शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें उपयुक्त कार्य और सामाजिक अवसर देने की भरपूर चेष्टा कर रही है।'

'अधिकांश अन्धों को दयालु, धर्मालु व्यक्तियों के दान पर ही निर्भर करना पड़ता था, इस दृष्टि से समाज में उनका स्थान बड़े सम्मान का था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मों में दान की बड़ी महिमा वर्णित हुई है और इसीलिए सुगमता से भिक्षा-वृत्ति ही अन्धों का एक प्रमुख पेशा बन गया।'[१]

जब तक सामाजिक समानता का भाव विकसित नहीं हुआ था तब तक दान-पुण्य के आधार पर असहाय व्यक्तियों को कुछ दिया जाता था। आज के प्रबुद्ध युग में वह धारणा विलुप्त हो चुकी है। अब वे भिक्षा या कृपा के नहीं किन्तु सामाजिक सभाग के अधिकारी माने जाते हैं। इसलिए उनके प्रति दया का भाव नहीं, कर्तव्य का भाव जुड़ गया है।

एक दर्शन सामाजिक दया-दान को आत्म-धर्म मानता है, उससे उसे पुष्टि मिलती है। और दूसरा दर्शन उसे आत्म-धर्म नहीं मानता, उससे क्या दया-दान के अस्तित्व को खतरा नहीं है? यह प्रश्न होता है। इसके उत्तर में मैं इतना ही कहूंगा कि सहयोग एक सामाजिक आवश्यकता है और मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सहयोग भावना की पुष्टि के लिए यह भावना पर्याप्त है। आत्म-धर्म के प्रति कोई आस्थावान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, किन्तु सामाजिक प्राणी समाज का अंग होने के नाते समाज-धर्म के प्रति सहज भाव से आकृष्ट हो सकता है। समाज-व्यवस्था के विकृत रूप में चलने वाले दया-दान का समर्थन कर धर्म बहुत उद्दीपन नहीं पा सकता। अपने सामाजिक भाइयों को दीन-हीन मानने पर ही दया और उन्हें भिखारी मानने पर ही दान-धर्म का अस्तित्व टिका हुआ है, वह धर्म-प्रभावना के बदलने में धर्म-ग्लानि की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इस प्रश्न पर हमें गतिशील और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण से अनुप्रेक्षा करनी चाहिए।

---

१ नया समाज, पृ० १८२, १८३, सितम्बर, १९५३

७

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म

जो लोग मानते हैं—धर्म समाज के अभ्युदय के लिए चला और है, उनके लिए अहिंसा मर्यादित धर्म है। मर्यादा का मापदण्ड है—समाज की आवश्यकता।

धर्म का प्रवर्तन आत्म-शुद्धि के लिए हुआ है, ऐसे विचार वालो के लिए अहिंसा अमर्यादित धर्म है। वे अहिंसा को उपयोगिता या आवश्यकता के बाटो से नही तोलते। वे उसे सयम की तुला से तोलते है। सचमुच ही अहिंसा समाज के अभ्युदय के लिए ही प्रवृत्त हुई होती तो उसकी मर्यादाए इतनी सूक्ष्म नही बनती, समाज-निरपेक्ष बनकर भी वह विकसित नही होती।

अहिंसा-धर्म समाज के अभ्युदय के लिए ही है तो उसे धर्म की भूमिका पर क्यो रखा जाए ? समाज के लिए वह अधिक उपयोगी तभी बन सकता है, जबकि उसका मूल्याकन समाज की दृष्टि से किया जाए।

अहिंसा का विचार समाज की भूमिका से ऊपर शरीर को एक बाजू रखकर केवल आत्म-स्वरूप की भित्ति पर हुआ है, उससे स्पष्ट जान पडता है कि उसका लक्ष्य आत्म-शुद्धि या देह-मुक्ति ही है।

अहिंसा-धर्म की भित्ति स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के डर की कल्पना ही है तो उसे तोड फेंक देना चाहिए। वैज्ञानिक युग के व्यक्ति की दृष्टि मे अर्थवाद की अपेक्षा यथार्थता का मूल्य अधिक हो जाता है।

अहिंसा-धर्म आत्म-शोधन के लिए है अर्थात् देह-मुक्ति के लिए है तो उसे अपनी ही दिशा मे चलना चाहिए।

सामाजिक धर्म नितान्त ऐहिक और पौने सोलह आने भौतिक होता है। उसमे स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि पारलौकिक स्थितियों का विचार नही होता। नैतिकता का विचार होता है, वह भी सामाजिक स्तर पर। अनात्मवादी कितने ओछे स्तर पर धर्म का विचार करते हैं, उसका एक नमूना देखिए—'आदमी को अपने

ऊपर विश्वास करना सीखना चाहिए। धर्म-ग्रथो के पाठ उसे कडकडाती सर्दी से न बचा सकेंगे। घर, अग्नि और वस्त्र ही उसकी रक्षा कर सकेंगे। अकाल से बचने के लिए लाखो धर्मोपदेश की अपेक्षा एक हल अधिक उपयोगी है। ससार के आरम्भ मे से जितनी प्रार्थनाए की गई है, वे सब उतने रोगो को दूर न कर सकेंगी जितने रोग किसी एक सामान्य पेटेण्ट दवा से दूर हो सकते है।'[१]

जहा पौद्गलिक वस्तुओ की प्राप्ति के लिए धर्म की कल्पना हो, वहा वह व्यर्थ है। यह सच है—रोटी, कपडा आदि सुख-सुविधाए प्राप्त करने मे धर्म सहायक नही बनता। धर्म के बारे मे दूसरी कल्पना प्रवर्तक-धर्म की है। वह पारलौकिक भी है और आध्यात्मिक भी। किन्तु वह मोक्ष को स्वीकार नही करता। उसके अनुसार धर्म का ऐहिक फल है अभ्युदय और पारलौकिक फल है स्वर्ग-प्राप्ति।

तीसरी परम्परा निवर्तक-धर्म की है। इसका साध्य है मोक्ष। इसके अनुसार धर्म सिर्फ आत्म-शुद्धि के लिए ही किया जाना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक सुख-सम्पदाओ, वैभव और स्वर्ग के लिए धर्म नही करना चाहिए।[२] इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—'आप मिले हुए भोगो को छोडकर आगामी भोगो के लिए तप तप रहे है, यह आश्चर्य की बात है।'

राजर्षि बोले—'काम-भोग शल्य हैं, विष है। उनकी कामना करने वाले दुर्गति जाते है। मै आत्म-शुद्धि के लिए तप तप रहा हू, पारलौकिक भोगो के लिए नही।'[३]

निवर्तक धर्म पूर्णतया आध्यात्मिक है। पौद्गलिक सुख-सुविधाओ की दृष्टि से वह न इहलौकिक है और न पारलौकिक। आत्म-शुद्धि की दृष्टि से वह इहलौकिक भी है और पारलौकिक भी।[४]

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म का आधार

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म का आधार कर्मवाद है। कर्मवादियो की दो शाखाए रही हैं

१ त्रिवर्गवादी,

२ पुरुषार्थ-चतुष्टयवादी।

धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थों को स्वीकार करने वाली शाखा मे मोक्ष का स्थान नही है। इसी का नाम प्रवर्तक धर्म है। इसका चरमसाध्य स्वर्ग है। इसके अनुसार धर्म, शुभकार्य या पुण्य का फल स्वर्ग है। अधर्म, अशुभ कर्म या

---

१ स्वतत्र विचार कर्नल इगरसोल, पृ० ४१ (अनुवादक भदन्त आनन्द कौसल्यायन)।

२ दशवैकालिक—६।४

३ उत्तराध्ययन ९।५१, ५३

४ वही, ९।१५

पाप का फल नरक है। इन्ही के द्वारा जन्म-मरण की परम्परा चलती है। उसका कभी भी निरोध नही हो सकता। इस परम्परा मे धर्म या पुण्य हेय नही है। इसमे धर्म का आधार शिष्ट-समाजसम्मत आचार है। इसके धार्मिक विधान स्वर्ग-लक्षी हैं।

दूसरी परम्परा निवर्तक धर्म की है। इसका साध्य मोक्ष है। इसमे धर्म और पुण्य एक नही है। धर्म आत्मा की शुद्ध परिणति है और पुण्य कर्म-बन्धन है। पुण्य बन्धन है इसलिए हेय है।[१] पुण्य का फल स्वर्ग आदि शुभ-भोग है किन्तु वह मोक्ष का बाधक है।[२] यह मोक्षार्थी के लिए वाछनीय नही। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे—'पुण्य ससार-भ्रमण का हेतु है। जो इसकी इच्छा करते है, वे परमार्थ को नही समझते, मोक्ष-मार्ग को नही जानते।'[३] फल की दृष्टि से पुण्य और पाप मे अन्तर है। पुण्य का फल शुभ-भोग है, पाप का अशुभ-भोग। किन्तु मोक्ष के साधन ये दोनो नही हे, इसलिए पुण्य के फल भी तत्त्व-दृष्ट्या दु ख ही है।[४] चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति आदि-आदि पुण्य के फल निश्चय दृष्टि से दु ख ही है।'[५] इसीलिए आचार्य योगीन्दु कहते है—'हमारे पुण्य का बन्ध न हो, क्योकि पुण्य से धन मिलता है, धन से मद होता है, मद से मति-मोह और मति-मोह से पाप।'[६] यह क्रम उन्ही के होता है, जो पुण्य की इच्छा से धर्माचरण करते हे। जो आत्म-शुद्धि के लिए धर्माचरण करते हे, उनके अवाछित पुण्य का बध हो जाता है। किन्तु वह व्यक्ति को दिग्मूढ नही बनाता, फिर भी वह साधन जन्म-मृत्यु की परम्परा का ही है, मोक्ष का नही। जीव ससार-भ्रमण करता है, उसका कारण शुभ-अशुभ कर्म ही है। मोक्ष शुभ-अशुभ कर्म नष्ट होने से होता है। कर्म से कर्म का नाश नही होता, कर्म का नाश अकर्म से होता है।[७] मोक्ष तब हो जब नए कर्म, पुण्य और पाप, दोनो न लगे। प्रवर्तक-धर्म के अनुसार धर्म और पुण्य दोनो एक है। निवर्तक-धर्म मे ये दोनो दो हो जाते है। पुण्य का अर्थ है, शुभ कर्म का बन्धन और धर्म का अर्थ है बन्धन-मुक्ति का साधन। ये दोनो परस्पर विरोधी है। बन्धन के साधन से मुक्ति नही हो सकती और मुक्ति के साधन से बन्धन नही हो सकता।

---

१ उत्तराध्ययन, २१।२४
२. शान्त सुधारस ७।७
३ समयसार १६१
४ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २००४
५ वही, गाथा २००५
६ परमात्मप्रकाश २।६०
७ सूत्रकृतांग १-१२-१५

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला।
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥

धर्म की शुभ प्रवृत्त्यात्मक स्थिति मे होने वाला बन्धन पुण्य का होता है। इस साहचर्य के उपचार से कहा जाता है कि धर्म से पुण्य होता है किन्तु वास्तव मे धर्म मुक्ति का ही हेतु है, उससे बन्धन नही होता। पुण्य बन्धन है, इसलिए हेय है। नव पदार्थों मे जीव और अजीव ज्ञेय, पुण्य, पाप, बन्ध और आस्रव हेय तथा सवर, निर्जरा और मोक्ष— तीन उपादेय हैं। निश्चय-दृष्टि मे पुण्य और पाप दोनो हेय हैं, फिर भी मोह से प्रभावित व्यक्ति पुण्य को उपादेय मानते है और पाप को हेय। परम्परा से पुण्य मोक्ष का कारण बन सकता है, फिर भी वह न स्वय उपादेय है और न उससे कुछ उपादेय कार्य सधता है। पाप भी मोक्ष के परम्पर कारण बन सकते हैं। इसीलिए योगीन्दु कहते हैं—'जिन कष्टो के कारण जीव मे मुक्ति की भावना पैदा हो, वे कष्ट उन सुखो की अपेक्षा अच्छे है, जो जीव को विषय मे फँसाते है।' आत्म-दर्शन की जिज्ञासा को पुण्य और पाप दोनो पूर्ण नही कर सकते। इस परमार्थ-दृष्टि से वे दोनो समान है।

और क्या पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है ! पुण्य की इच्छा करने वाला वास्तव मे काम-भोग की इच्छा करता है। इसलिए पुण्य की इच्छा रखते हुए धर्माचरण करने का निषेध किया है।

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म स्वरूप और फलित

राग-परिणति हिसा है,द्वेष-परिणति हिंसा है, वीतराग-परिणति अहिंसा। हिंसा अधर्म है, अहिंसा धर्म। राग-द्वेष असयम है, वीतराग भाव सयम। असयम अधर्म है, सयम धर्म। धर्म प्रवृत्ति-रूप भी होता है और निवृत्ति-रूप भी। केवल प्रवृत्ति ही हिंसा नही, निवृत्ति भी हिंसा होती है। केवल निवृत्ति ही अहिंसा नही, प्रवृत्ति भी अहिंसा होती है। आत्यन्तिक निवृत्ति शरीरमुक्त और कर्म-मुक्त दशा मे होती है। इससे पूर्व प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो सापेक्ष होती है। एक कार्य मे प्रवृत्ति होती है, दूसरे से निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष मे प्रवृत्ति होती है, वीतराग-भाव की निवृत्ति हो जाती है। वीतराग-भाव मे प्रवृत्ति होती है, राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति और वीतराग-भाव की निवृत्ति—दोनो अधर्म हैं, असयम हैं। वीतराग-भाव की प्रवृत्ति और राग-द्वेष की निवृत्ति, ये दोनों धर्म हैं, सयम हैं।

आत्मलक्षी प्रवृत्ति विधायक अहिंसा है। ससारलक्षी या पर-पदार्थलक्षी प्रवृत्ति की विरति निषेधात्मक अहिंसा है।[1] धर्म का आधार आत्मा और कर्म है। आत्मा चैतन्य-स्वरूप है और कर्म अचेतन-पौद्गलिक है। इन दोनो का सयोग

---

१ उत्तराध्ययन २४।२६ एयाओ पच समिइयो, चरणस्स पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥

बन्धन है और वियोग मुक्ति। बन्धन के कारण हैं—राग और द्वेष। निवृत्त-आत्मा कर्मों को नही बाधती। प्रवृत्त-आत्मा के वे बधते है। आत्मा की प्रवृत्ति राग-द्वेष-प्रेरित होती है, तब अशुभ कर्म बधते है। उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेष-अप्रेरित होती है, तब निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का बन्ध होता है।[1] ज्यों-ज्यो सवर (निवृत्ति) बढता है, त्यो-त्यो कर्म-बन्ध शिथिल हो जाता है। वह (सवर) जब समग्र हो जाता है, तब कर्म-बन्ध सर्वथा रुक जाता है, पहले के कर्म-बन्धन टूट जाते हैं और आत्मा मुक्त बन जाती है।[2]

प्रवर्तक-धर्म मे स्वर्ग का जो महत्त्व है, वह निवर्तक-धर्म मे नही। उसमे मुक्ति का महत्त्व है। स्वर्ग भी ससार-भ्रमण का अग है। उसे पा लेने पर भी जन्म-मृत्यु की परम्परा समाप्त नही होती। उसकी समाप्ति असयमी जीवन और प्राणधारणात्मक जीवन के प्रति मोह-त्याग करने से होती है। सक्षेप मे निवर्तक-धर्म का स्वरूप और लक्ष्य यो है

१ आत्म-स्वभाव मे परिणति धर्म।
२ आत्म-स्वभाव मे परिणत होने का साधन धर्म॥
३ वही साधन धर्म है जो साधकतम हो, अनन्तर हो।
४ धर्म का लक्ष्य-मुक्ति (विदेह-दशा)।
५ आत्मा और देह का सयोग-प्रवृत्ति।
६ शरीरोन्मुखी या असयमोन्मुखी प्रवृत्ति—बन्ध-हेतु।
७ आत्मोन्मुखी या सयमोन्मुखी प्रवृत्ति—मोक्ष-हेतु।
८ आत्मा और देह का वियोग—निवृत्ति।

प्रवर्तक धर्म की तुलना मे

निवर्तक धर्म का फलित रूप अध्यात्मवाद है। उसके फलाफल की एकमात्र कसौटी अहिंसा और हिंसा का विचार है। प्रवर्तक-धर्म का फलित रूप है—मानवतावाद। उसकी फलाफल निर्णायक दृष्टि अहिंसा और हिंसा की अपेक्षा मानव-सेवा पर अधिक निर्भर है।

निवर्तक-धर्म प्राणीमात्र समभावी है, इसलिए वह सब स्थितियो में मानव को सर्वोपरि महत्त्व नही देता। प्रवर्तक-धर्म में मानव के सामने और सब गौण होते

१ शुभ-प्रवृत्ति मोह कर्म का क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव होती है, इसलिए प्रधानतया इससे कर्मों की निर्जरा (विलय) होती है। और गौण रूप में इसके सहचारी नाम कर्म के उदय से पुण्य का बन्ध होता है।

२ सूत्रकृताग १।१५।२२-२४

हैं। दोनो का उद्गम एक नही है। इनमे स्वरूप, लक्ष्य और साधना का मौलिक भेद है।

धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

भगवान् महावीर ने तीन प्रकार के व्यवसाय बतलाए हैं—[1]

(१) लौकिक, (२) वैदिक, (३) सामयिक ।

लौकिक व्यवसाय के तीन भेद है[2]—धर्म, अर्थ और काम। यहा धर्म शब्द का अर्थ है—समाज-कर्तव्य। अर्थ और काम जैसे लौकिक होते हैं, वैसे यह धर्म भी लौकिक है। मोक्ष-धर्म के तीन भेद—ज्ञान, दर्शन और चारित्र –सामयिक व्यवसाय के अन्तर्गत किए है[3]। समाज-कर्तव्य के लिए 'लौकिक धर्म' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य मे भी हुआ है। मनुस्मृति मे जाति-धर्म, वैश्य-धर्म, कुल-धर्म, देश-धर्म, राज्य-धर्म आदि अनेक प्रकार के धर्म बताए है[4]। प्रमाण मीमासा मे आप्त यानी विश्वासी पुरुष के दो भेद है—लौकिक और लोकोत्तर। पौराणिक साहित्य में भक्ति तीन प्रकार की बताई है – लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक भक्ति को ही 'पराभक्ति' माना है।

लौकिक

गाय के घी, दूध और दही, रत्न, दीप, कुश, जल, चन्दन, माला, विविध धातुओ तथा पदार्थों से कलित, अगर की सुगन्धसे युक्त एव घी और गुग्गुल से बने हुए धूप, आभूषण, सुवर्ण और रत्न आदि से निर्मित हार, नृत्य, वाद्य और सगीत, सब प्रकार के जगली फल-फूलो का उपहार तथा भक्ष्य, भोज्यादि नैवेद्य अर्पण करके मनुष्य ब्रह्माजी को उद्दिष्ट कर जो पूजा करता है, वह लौकिक भक्ति मानी गई है।

वैदिक

ऋग् आदि वेद-मन्त्रो का जप, सहिताओ का अध्यापन आदि कार्य ब्रह्माजी के उद्देश्य से किए जाते है, वह वैदिक भक्ति है।

---

१ स्थानांग ३।३।१८४

२ वही, ३।३ लोगिए ववसाए तिविहे पन्नत्ते, त जहा—अत्थे, धम्मे, कामे।

३ वही, ३।३ सामयिए ववसाए तिविहे पन्नत्ते, त जहा—णाणे, दसणे, चरित्ते।

४ मनुस्मृति ८।४१

आध्यात्मिक

इसके दो भेद हैं—सांख्यज और योगज।

सांख्यज—सख्यापूर्वक प्रकृति और पुरुष के तत्त्व को ठीक-ठीक जानना।

योगज—प्राणायामपूर्वक ध्यान, इन्द्रियो का सयम और मन को समस्त इन्द्रियो के विषयो से हटाकर ब्रह्म-स्वरूप का चिन्तन करना। यही ब्रह्माजी के प्रति 'पराभक्ति' मानी गई है।[1]

स्थानाग मे दस प्रकार के धर्म बताए है[2]—

१ ग्राम-धर्म—गाव का आचार या व्यवस्था अथवा विषय-भोग की अभिलाषा।

२ नगर-धर्म—नगर की व्यवस्था।

३ राष्ट्र-धर्म—राष्ट्र की व्यवस्था।

४ पाखण्ड-धर्म— श्रमणो का आचार।

५ कुल-धर्म—कुल की व्यवस्था।

६ गण-धर्म—गण की व्यवस्था।

७ सघ-धर्म—सघ की व्यवस्था।

८ श्रुत-धर्म।

९ चारित्र-धर्म।

१० अस्तिकाय-धर्म।

इनमे आत्म-सशोधक धर्म के सिवा गाव, नगर, राष्ट्र आदि के आचार, व्यवस्था आदि को धर्म कहा गया है। यशस्तिलकचम्पू मे शोमदेवसूरि धर्म के दो भेद मानते है—लौकिक और लोकोत्तर। इन्द्रनंदी-सहिता मे भी धर्म के ये लौकिक और लोकोत्तर दो भेद माने है। बाह्य-शुद्धि के लिए लौकिक और आभ्यन्तर-शुद्धि के लिए लोकोत्तर धर्म बताया है। दशवैकालिक निर्युक्ति मे गम्य-धर्म, पशु-धर्म, पुरवर-धर्म, ग्राम-धर्म, गोष्ठी-धर्म, गण, राज्य आदि के धर्म को लौकिक धर्म कहा है।

चार पुरुषार्थ मे धर्म और मोक्ष अलग-अलग हैं। वे धर्म के दो रूप लोक-धर्म और मोक्ष-धर्म की ओर सकेत जताते हैं। लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य (पृ० ६४-६६) मे इसका सुन्दर विवेचन किया है। उसका कुछ अश यो है

—'राजधर्म, देशधर्म, प्रजाधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, मित्रधर्म इत्यादिक

१ पद्मपुराणांक (सृष्टि-खण्ड), पुष्कर तीर्थ की महिमा, पृ० ७८

२ स्थानांग १०।७६०

सासारिक बन्धनों को भी धर्म कहते हैं।'

—'पारलौकिक धर्म को मोक्ष-धर्म अथवा सिर्फ मोक्ष और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवलधर्म कहा करते हैं। महाभारत मे धर्म शब्द अनेक स्थानो पर आया है और जिस स्थान मे कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-सगत है, उस स्थान मे धर्म से कर्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था शास्त्र का ही अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान मे पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्तिपर्व के उत्तरार्द्ध मे मोक्षधर्म इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है।'

'जैन धर्म और वर्ण-व्यवस्था' (पृ० ११) मे पडित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने लिखा है—'धर्म शब्द मुख्यतया दो अर्थों मे व्यवहृत होता है—एक व्यक्ति के जीवन-सशोधन के अर्थ मे, जिसे हम आत्म-धर्म कहते है और दूसरा समाज-कर्तव्य के अर्थ मे। मनुस्मृतिकार ने इन दोनो अर्थों मे धर्म शब्द का उल्लेख किया है। वे समाज-कर्तव्य को वर्ण-धर्म और दूसरे को सामान्य धर्म कहते हैं।'

किस्तूरसावजी जैन ने धर्म के दो रूप बताते हुए लिखा है—'कर्तव्य का ही दूसरा नाम धर्म है। धर्म दो प्रकार का है – एक को मोक्ष-धर्म या निश्चय-धर्म कहते है और दूसरे को व्यवहार-धर्म या श्रावक-धर्म कह सकते है। पहले धर्म का आदर्श विशिष्ट ध्येय या स्वाभाविक पद की प्राप्ति है। दूसरे का आदर्श यह है कि हमे ससार मे क्या करना चाहिए व हम क्या कर सकते हैं। समाज मे हमारा स्थान क्या है व हमे अपने उत्तरदायित्व को किस तरह निभाना चाहिए।'[1]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने धर्म शब्दके अनेक अर्थ-प्रयोग बताते हुए लिखा है—'इस तरह के रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानून की हैसियत रखते है, बहुत तरह के हो सकते है, जिन्हे देश-धर्म, कुल-धर्म कहा गया है। पेशे-वर लोगो के सगठन को उस समय श्रेणी और युग भी कहते थे और उनके व्यवहार श्रेणी-धर्म या युग-धर्म कहलाते थे। मनु और याज्ञवल्क्य के धर्म-शास्त्रो मे एव कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे राजा को हिदायत दी गई है कि वह इस तरह के अलग-अलग धर्मों या रिवाज मे आने वाले अमल दस्तूरो को मान्यता दे। धर्म शब्द का यह अर्थ लगभग कानून जैसा है।'

आचार्य नागसेन ने धर्म-ध्यान की व्याख्या मे धर्म शब्द के अनेक अर्थ किए है

१ आत्मा का निर्मोह परिणाम।

२ वस्तु-स्वरूप।

३ वस्तु-याथात्म्य।

१ भगवान् महावीर और उनका संदेश, अनेकान्त वर्ष ८, अंक ६।७

४ क्षमा आदि उत्तम गुण।

डा० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार भारतवर्ष मे एक ओर धर्म शब्द का अर्थ होता है—'कठोर सयम के धारी महात्माओ के अनुभव और दूसरी ओर उन आध्यात्मिक सिद्धान्तो के अनुयायी समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाले व्यावहारिक नियम। अर्थात् धर्म के दो रूप है—एक सैद्धान्तिक या आध्यात्मिक और दूसरा व्यावहारिक या सामाजिक।'[1]

साख्य-दर्शन मे भी ऐसी व्यवस्था मान्य हुई है।[2]

बौद्ध-प्रवचन मे धर्म शब्द

बौद्ध-दर्शन मे धर्म शब्द इन तीन अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है

१ स्व-लक्षण धारण।

२ कुगति-गमन-विधारण।

३ पाचगतिक ससार-गमन-विधारण।

पहले मे सास्रव और अनास्रव सभी कार्य धर्म कहलाते है। इसकी वस्तु-स्वभाव धर्म के साथ तुलना होती है।

दूसरे मे 'दश कुशल' को धर्म कहा गया है।

तीसरे मे धर्म का अर्थ है—निर्वाण।

अश्वघोष ने धर्म की द्विविधता को स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है—

'उत्तिष्ठ भो क्षत्रिय! मृत्युभीत! वरस्व धर्मं, त्यज मोक्षधर्मम्।'

यहा बुद्ध को मोक्ष-धर्म को छोड क्षात्र-धर्म को स्वीकार करने की प्रेरणा दी जा रही है।

गीता मे जाति-धर्म, कुल-धर्म आदि प्रयोग मिलते हैं। अर्जुन ने धर्म का प्रयोग रीति-रिवाज के अर्थ मे किया है।[3] कृष्ण ने धर्म का प्रयोग कर्तव्य के अर्थ मे किया है।[4] मनुस्मृति मे दण्ड को धर्म कहा गया है[5]

दण्ड शास्ति प्रजा सर्वा, दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्ड सुप्तेषु जागर्ति, दण्ड धर्मं विदुर्बुधा॥

महर्षि पाणिनि ने धर्म के दो अर्थ प्रस्तुत किए है—नीति-धर्म और विधि-धर्म।

---

१. परमात्म प्रकाश की प्रस्तावना, पृ० १००
२ साख्यदर्शन ५।२५, साख्यकारिका २३, माठर वृत्ति।
३ गीता १।४३
४ वही २।३२,३३
५. मनुस्मृति ७।१८

'धर्मं चरित धार्मिक'—यहा धर्म शब्द का प्रयोग नीति-धर्म के अर्थ मे है।

शुल्कशाला पर चुगी लगती थी, उसे धर्म्य कहा जाता था—'शुल्कशालाया धर्म्यं शौल्कशालिकम्'—यहा धर्म शब्द का प्रयोग विधि-धर्म के अर्थ मे है।

स्थानाग मे दस प्रकार के श्रमण-धर्म का उल्लेख मिलता है। वे आत्म-धर्म के विभिन्न रूप हैं। उनके नाम इस प्रकार है[1]—

१ क्षमा	६ सत्य
२ मुक्ति	७ सयम-त्याग
३ आर्जव	८ ब्रह्मचर्य
४ मार्दव	९ आकिंचन्य
५ लाघव	१० शौच

मनुस्मृति मे भी दस प्रकार के धर्म उल्लखित है[2]—

१ धृति	६ इन्द्रिय-निग्रह
२ क्षमा	७ धी
३ दम	८ विद्या
४ अस्तेय	९ सत्य
५ शौच	१० अक्रोध

सक्षेप मे आत्म-धर्म के दो प्रकार है—श्रुत और चारित्र। श्रुत और चारित्र ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख के निश्चित उपाय है, इसलिए निरुपचरित धर्म है। सामाजिक सुख के अर्थ मे धर्म शब्द उपचरित है।

आत्म धर्म और लोक-धर्म

सयम और तपस्या, ये दोनो आत्म धर्म है। अथवा यू कहना चाहिए कि मुनि-धर्म आत्म-धर्म है। मनि आत्म-धर्म के लिए प्रव्रजित होता है। गृहस्थ का आत्म-धर्म मुनि-धर्म का ही अग है। वह उससे पृथक् नही है। अणुव्रत महाव्रत की ही स्थूल आराधना है।

आत्म-धर्म मोक्ष की साधना है और लोक-धर्म व्यवहार का मार्ग। मोक्ष की साधना मे विश्वास नही करते, उनके लिए आत्म-धर्म और लोक-धर्म—ऐसे दो विभाग आवश्यक नही होते। किन्तु जो आत्मवादी है, ससार से मोक्ष की ओर प्रगति करना, बन्धन से मुक्ति की ओर जाना जिनका लक्ष्य है, वे ससार और मोक्ष की साधना का विवेक किए बिना चल ही नही सकते। मुनि केवल आत्म-धर्म की

---

१ स्थानांग १०।७१३
२ मनुस्मृति ६।९२

साधना लिए चलते है। गृहस्थ समाज की शृखला से बधा हुआ होता है, इसलिए वह केवल आत्म-धर्म का पालन करने वाला ही नही होता, वह लोक-धर्म की मर्यादाओ को भी निभाता है। कुमार ऋषभ के विवाह का प्रसग देखिए। आचार्य जिनसेन लिखते हैं[1]

पश्यन् पाणिगृहीत्यौ ते, नाभिराज सनाभिभि ।
सम समतुषत् प्राय, लोकधर्मप्रियो जन ॥

'महाराज नाभिराज अपने परिवार के लोगो के साथ दोनो पुत्र-वधुओ को देखकर भारी सन्तुष्ट हुए, सो ठीक ही है। क्योकि ससारी जनो को विवाह आदि लोक-धर्म ही प्रिय होता है।'

कुमार ऋषभ से विवाह करने के लिए प्रार्थना करते समय कहा जाता है[2]—

प्रजासन्तत्यविच्छेदे, तनुते धर्मसतति ।
मनुष्व मानव धर्मं, ततो देवेममच्युत ॥

'प्रजा की सतति का उच्छेद नही होने पर धर्म की सतति बढ़ती रहेगी, इसलिए हे देव! मनुष्यो के इस अविनाशिक विवाह रूपी धर्म को अवश्य ही स्वीकार कीजिए।'

देवेम गृहिणा धर्म, विद्धि दारपरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्न, कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥ १५।६४

'हे देव! आप इस विवाह-कार्य को गृहस्थो का एक धर्म समझिए। क्योकि गृहस्थो को सतान की रक्षा मे प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए।'[3]

इस प्रसग मे आए हुए लोक-धर्म, मानव-धर्म और गृहि-धर्म—तीनो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। बहुधा कहा जाता है—आत्म-धर्म और लोक-धर्म, ऐसे दो भेद तेरापथ के आचार्यों ने—विशेषत आचार्यश्री तुलसी ने किए हैं। उन्हे आचार्य जिनसेन (जो विक्रम की सातवी सदी मे हो चुके हैं) के शब्दो पर ध्यान देना चाहिए। कोई भी जैनाचार्य विवाह को धर्म नही मानते। लोक-दृष्टि से वह बुरा कार्य भी नही है, इसलिए उसे लोक-धर्म कहा गया है। आचार्य हेमचन्द्र इसे व्यवहार-पथ कहते हैं—

'तथापि नाथ! लोकाना, व्यवहारपथोऽपि हि।
त्वयैव, मोक्षवर्त्मेव, सम्यक् प्रकटयिष्यते ॥

---

१ महापुराण १५।७
२. वही १५।६३
३ वही १५।६४
४. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १।२।७६३, ७६४

तल्लोकव्यवहाराय, पाणिग्रह-महोत्सवम् ।
विधीयमान भवतेच्छामि नाथ ! प्रसीद मे ।।

श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्म-हित की और शरीर-हित की बडे मार्मिक शब्दो में विश्लेषणा की है। महात्माजी ने उनसे पूछा कि "सर्प काटने आए तो उस समय हमे स्थिर रहकर उसे काटने देना उचित है या मार डालना ?"

श्रीमद् राजचन्द्र ने उत्तर दिया—'इस प्रश्न का मैं उत्तर दू कि सर्प को काटने दो तो बडी समस्या आकर उपस्थित होती है। तथापि तुमने जब यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है' यो फिर इस असार शरीर की रक्षार्थ उसे मारना क्योकर उचित हो सकता है, जिसकी कि शरीर मे प्रीति है, मोह-बुद्धि है ?'

'जो आत्महित के इच्छुक है, उन्हे तो यही उचित है कि वे शरीर से मोह न कर उसे सर्प के अधीन कर दे। अब तुम यह पूछोगे कि जिसे आत्महित न करना हो, उसे क्या करना चाहिए ? तो उसके लिए यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियो मे परिभ्रमण करना चाहिए। उसे यह उपदेश कैसे दिया जा सकता है कि वह सर्प को मार डाले। अनार्य वृत्ति के द्वारा सर्प के मारने का उपदेश किया जाता है, पर हमे तो यही इच्छा करनी चाहिए कि ऐसी वृत्ति स्वप्न मे भी न हो।'

अध्यात्म-धर्म और लोक-धर्म का पृथक्करण

आचार्य भिक्षु ने जो दृष्टिकोण दिया उसमे समस्याओ का बौद्धिक समाधान सन्निहित है। इसलिए वे सही अर्थ मे धर्मक्रान्ति के महान् सूत्रधार थे। समाज-धारणा के और आत्म-साधना के धर्म को एक मानने के कारण जो जटिल स्थितिया पैदा होती है, उनका सही समाधान इनका पृथक्करण ही है। आज का बुद्धिवादी वर्ग इस विभाजन को बडी सरलता से मान्य करता है। प० लक्ष्मण शास्त्री तर्क-तीर्थ ने श्री हृ० कृ० मोहिनी के इस पृथक्कतावादी सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए लिखा है— 'इस बँटवारे को हम भी पसन्द करते है। धर्म अर्थात् समाज-धारणा के नियम अथवा सामाजिक जीवन के कानून-कायदे। ये कायदे समाज-सस्था के प्राण होते है। ये ही कायदे जैमिनी का कहा हुआ चोदना-लक्षण धर्म है। इसलिए पूर्व-मीमासा समाज-धारणाशास्त्र है। आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग और मोक्ष का विचार करता है। उत्तर-मीमासा अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्म वैयक्तिक होता है और धर्म सामाजिक। यज्ञ-सस्कार, वर्णाश्रम धर्म समाज-धारक धर्म है। समाज-धारणा-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र—उन दोनो की पूरी फारखती हो जानी चाहिए।"[१]

महात्मा गाधी भी राष्ट्र की नीति या व्यवस्था को धर्म का चोगा नहीं पहनाते

१ हिन्दू धर्म समीक्षा, पृ० ७०

थे । उन्होंने 'हरिजन' मे लिखे एक लेख मे बताया है—"यदि मैं तानाशाह होता तो धर्म और राष्ट्र को अलग-अलग कर देता । मैं शपथ के साथ कह सकता हू कि धर्म के लिए मरने को तैयार हू, परन्तु यह मेरा व्यक्तिगत मामला है । इसका राष्ट्र से कोई सम्बन्ध नहीं है ।"

एक प्रचारक मित्र (पादरी) के प्रश्न के उत्तर मे यह विचार महात्मा गाधी द्वारा प्रकट किया गया । उक्त मित्र पादरी ने प्रश्न किया था कि क्या स्वतत्र भारत मे पूर्ण धार्मिक स्वतत्रता होगी ? और क्या धर्म-राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यातायात, विदेश सम्बन्धी मुद्रा आदि अनेक बातो की देखभाल करेगा और क्या मेरे या आपके धर्म की देखभाल नही करेगा ?

धर्म शब्द के प्रयोगो की जटिलता के कारण ही मोक्ष-धर्म का लक्षण लोक-धर्म से भिन्न करना पडा । थोडे मे वह है—आत्मा का वीतराग-भाव या भाव-विशुद्धि ।

द्वितीय खण्ड

१

आचार्य भिक्षु कौन थे ?

आज से लगभग पन्द्रह वर्ष पहले मैंने 'अहिंसा' नामक एक पुस्तक लिखी थी। उसमे तेरापथ के अहिंसा विषयक दृष्टि-बिन्दु का थोडे मे विवेचन है। वह पुस्तक जैन श्वेताम्बर तेरापथी सभा चाडवास द्वारा प्रकाशित हुई। पूनमचन्दजी सिंघी ने महात्मा गाधी के निजी सचिव प्यारेलालजी को तेरापथ साहित्य की कई पुस्तकें दी। उनमे एक वह भी थी। महात्माजी ने उनमे से कितनी पुस्तके पढी, यह पता नही। दो पुस्तके पढी, यह निश्चित है। उनमे एक है आचार्यश्री तुलसी की 'अशान्त विश्व को शान्ति का सदेश' और दूसरी है 'अहिंसा'। इन्हे केवल पढा ही नही, पढने के साथ-साथ वे अपने विचार अकित भी करते गए। 'अहिंसा' (पृ० १६) मे महात्माजी ने लिखा—'आचार्य भिक्षु कौन थे ?' इस जिज्ञासा का सम्बन्ध स्थूल शरीरधारी भिक्षु से नही किन्तु अहिंसा के सूक्ष्मान्वेषी आचार्य भिक्षु से था।

आचार्य भिक्षु अहिंसा के अद्वितीय भाष्यकार हुए हैं। अहिंसा के विभिन्न पहलुओ पर उन्होने जिस कुशाग्रता के साथ अनुसधान किया, वह अहिंसक जगत् के लिए गौरव की बात है। उनके सफल मन्थन से निकले रत्न आज भी छिपे पडे है, और यही कारण है, कई व्यक्ति मूल तक पहुचे बिना उसकी बाहरी झाकी से ही सदिग्ध हुए है। उन्हें समझना चाहिए कि समुद्र का रूप यही नही है, जो ऊपर से दीख रहा है। वह रत्नाकर है, ऊपर से भले ही शैवाल का पुज दीखे।

हमारे असख्य क्षेत्रो मे असख्य आचार्य हुए है। उनकी हमे असख्य देन हैं। उनसे असख्य दृष्टियाँ हमे मिली है। जिस समय जिन आचार्यों को जो त्रुटियां लगी, उन्ही पर उन्होंने प्रमुख प्रहार किया। इसका अर्थ यह नही होता कि दूसरी दृष्टिया एकान्तत सही नही हैं। हम उनके दृष्टि-बिन्दुओ की उपज, उसके साधन और आकार-प्रकारों को समझे बिना उनकी मौलिकता तक नहीं पहुच स कते। यही कारण है कि हम एक-दूसरे के अपवाद-प्रतिवाद मे लग जाते हैं।

स्याद्वादी अथवा समन्वयवादी के लिए यह उलझन नहीं होनी चाहिए। मेरा दृढ विश्वास है कि हम द्रष्टा की मीमासन-भूमिका को समझ लें तो कम-से-कम उनके प्रति अन्याय करने से बच सकते है।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा के गर्भ मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का बल था। वे धर्म और दया-दान के नाम पर पोषित दुष्प्रवृत्तियो के कटु परिणामो को अनुभव कर सूक्ष्म चिन्तन मे लगे, लगे रहे, समूचा जीवन उसी साधना मे लगाया। अहिंसा, धर्म, दया और दान पर बडे-बडे मौलिक ग्रन्थ लिखे। उन्होने देखा कि धर्म के असली स्वरूप को न समझ उसके बाहरी रग-रूप पर मर मिटने वाले श्रद्धालुओ को तीखे बाणो के बिना जगाने का दूसरा कोई मार्ग नही है। उन्होने 'अनुकम्पा' शीर्षक ग्रन्थ लिखा। उसके द्वारा ऐसे तीखे बाण छोडे कि दया-दान का स्थितिपालक वर्ग हिल उठा। उनका क्रान्तिकारी सुधारक रूप विद्रोह का झण्डा लिए हुए था। वह तूफान के रूप मे सामने आया। उन्होने कहा—दया धर्म है, दान धर्म है, सेवा धर्म है, परन्तु ये अमर्यादित धर्म नही हैं। इनकी मर्यादा को समझो, अन्तर परख करो। धर्म-अधर्म दृष्टि-सापेक्ष है। एक सामाजिक व्यक्ति के लिए जो धर्म होता है, वह आत्म-साधक मुमुक्षु के लिए धर्म नही भी होता। समाज-सस्था और राज्य-सस्था की समूची कार्य-प्रणाली धर्म से अनुमोदित हो ही नही सकती। इसीलिए समाज-धर्म आत्म-धर्म से भिन्न है। समाज-धर्म का उद्देश्य जहा सामाजिक सुख-सुविधा है, वहा आत्म-धर्म का उद्देश्य है—शरीर-मुक्ति। समाज-धर्म और आत्म-धर्म का एकीकरण करने मे तम्बाकू और घी के सम्मिश्रण की-सी भूल है। समाज की भूमिका को विशुद्ध रखने के लिए उस पर आत्म-धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है, किन्तु वह आत्म धर्म ही है, यह गलत दृष्टिकोण है। सामाजिक सहयोग के स्थान पर अपने सामाजिक भाइयो को भिखारी और दया के पात्र बनाना सामाजिक अपराध भी है।

आचार्य भिक्षु का यह क्रान्ति-घोष सहा नही गया, लोगो को नया ही नही, अटपटा लगा। विरोध की बाढ आयी, फिर भी वे अपने पथ से हटे नही। उन्हे मृत्यु का भय नहीं था, पूजा-प्रतिष्ठा की कामना नही थी। जो सही लगा उसे अपनाया। यही उनके विषय मे जयाचार्य की 'मरण धार शुद्ध मग गह्यो' वाली उक्ति चरितार्थ होती है।

सिंह-पुरुष आचार्य भिक्षु (जीवन-झाकी)

अहिंसा आत्मा को पखारती है। सचाई उसका तेज बढाती है। जहा ये नहीं, वहा व्यक्तित्व ही नही, धर्म तो दूर की बात। जन-कल्याण बाद मे, पहले होना

चाहिए—आत्म-कल्याण—अपना शोधन। आत्म-शोधक ही दूसरो को उबार सकता है।

आचार्य भिक्षु एक-एक धर्म को परखते हुए चलते चले। वर्षों की परख और साधना के बाद वे तेरापंथ के अधिनायक के रूप मे धर्म-क्षेत्र मे चमके। आघात-प्रत्याघात के भँवर मे रुके बिना अव्याहत गति से बढे चले।

वे वैद्य बने। साधु समुदाय की नाडी पहचानी। अनाचार की धुरी तोडने उनका दिल क्रान्ति से उद्वेलित हो उठा। वे विद्रोह के स्वर मे बोले। युग की तहो मे छिपी बुराई बाहर आ पडी। मन बाधने की वृत्ति से वे सदा खिसियाए रहे। शिष्यो की जागीरदारी प्रथा को तोडने के लिए आग उगली। धन और घर बाध बैठने वाले साधुओ पर तीखे बाण फेके। आपस मे झगडने वाले साधुओ की ठगी वृत्ति की जड काटते रहे। खान-पान के लालची और ऐशो-आराम मे फसे साधुओ की कमजोरियो पर उनकी लोह लेखनी ने निराले ढग का प्रहार किया। उनकी दो रचनाए—(१)'साधा रै आचार री चौपई' और(२)'श्रद्धारी चौपई' पढ जाइए। उनकी क्रान्ति की चिनगारिया आचार-शैथिल्य को धुआ करती नजर आएगी। आप सहमेगे—कटु पदावली पर, कटु शब्दो पर और चुभने वाली गाथाओ पर।

ये रचनाए आचार्य हरिभद्र के युग की और उनकी क्रान्त-कृति 'सबोध-प्रकरण' की स्मृति सहसा ला देती हैं। चैत्यवासियो की आचार ढिलाई पर उन्होंने जो रुख लिया, उससे हजार गुना रूखा रुख आचार्य भिक्षु ने अपनाया।

आचार्य भिक्षु जितने क्रान्तदर्शी थे, उतने ही नही, उससे और अधिक शान्त-दर्शी थे। उनकी वीतराग की-सी क्षमा पत्थर-दिल को पिघलाने वाली थी। बुराई के साथ वे जीवन-भर जूझते रहे। पर व्यक्ति का प्रेम उन्होने कभी नही खोया। प्रतिद्वन्द्वियो के साथ भी उनका स्नेह-भरा व्यवहार था। उन्होंने अपने अनशनकाल मे विचार-भेद रखने वालो से क्षमा मागी। जान या अनजान मे हुए कटु व्यवहार की आलोचना की। तब विरोधी कहलाने वालो की आखें भी डबडबा आयी।

उनके हृदय मे प्राणी मात्र के प्रति समता का भाव था। बडो के लिए छोटो की हिंसा को धर्म मानने के लिए वे कभी तैयार नहीं हुए। उनके मस्तिष्क मे दान और दया की मर्यादा का पूरा विवेचन था। लोग उनके सिद्धान्तों की तोड मरोड करते रहे, चूहे-बिल्ली जैसी भ्रामिक आपत्तिया उठाईं, धर्म-सकट के प्रश्नो द्वारा जनता को उत्तेजित किया, फिर भी वे अपने विश्वास पर अटल रहे। शान्त-भाव से जनता को तथ्य बताते रहे।

उनका अहिंसा, दान और दया सम्बन्धी दृष्टिकोण लोक-धारणा से भिन्न था। उन्होंने बताया—अध्यात्म-दया वह है, जिसमें राग-द्वेष, मोह आदि न हों। वही

दान आत्म-कल्याण का हेतु है, जो सयम का आलम्बन बने। धर्म का स्वरूप आत्म-सयम और आत्म-सतुष्टि है। भौतिक सतुष्टि और भौतिक सरक्षण अध्यात्म-धर्म नहीं है।

एक ओर वे आचार-शिथिल साधु-सन्तो की सामन्तशाही को चुनौती दे रहे थे, दूसरी ओर ऐसे विचार दे रहे थे, जो लोक-मानस के अनुकूल नहीं थे। इसलिए उन्हे सघर्षों की बाढ़ को चीरकर चलना पडा। उनमे शान्ति और क्रान्ति का अपूर्व सगम था, इसलिए वे कुछ सहते और कुछ कहते चलते रहे। वे कुशल योद्धा थे, अपने आपसे लडना जानते थे।

उनकी कठोर तपस्या और कठोर चर्या ने एक प्रकाश की किरण फेंकी, वाता-वरण बदल गया। अब उनके विचार भी लोक-मानस को खीचने लगे। वे साधक थे। साधना के लिए चले। सम्प्रदाय चलाने और मत बाधने की लालसा उन्हे छू तक नही पायी। वे तब स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यश्री रुघनाथजी से अलग हुए, सम्प्रदाय चलाने के लिए नही किन्तु भगवान् महावीर की वाणी के अनुसार चलने के लिए। महापुरुष चले वह मार्ग बन जाए, यह एक बात है और मार्ग चलाने के लिए चले, यह दूसरी बात। ऐसा ही हुआ। वे चले और मार्ग बन गया। वे चले किसलिए ? यह उन्ही के शब्दो मे पढिए

"आहार पाणी जाच कर सर्व साधु उजाड मे परहा जावता। रूखडा री छाया आहार पाणी मेल नै आतापना लेता, आथण रा पाछा गाव मे आवता। इण रीत कष्ट भोगवता। कर्म काटता। म्हे या न जाणता मारो मारग जमसी ने यु दीक्षा लेसी, यु श्रावक श्राविका हुसी। म्हे तो विचारता, आत्मा रा कारज सारस्या, मर पुरा देस्या। इम धार विचार नै तपस्या करता।"

उनके साधन अपने-आप जुटे, उन्होने जुटाए नहीं। उनका मार्ग तेरापथ कह-लाया। वे 'भीखणजी' इस नाम से ही पहचाने जाते रहे। जोधपुर मे एक सेवक कवि ने आपके गण को तेरापथ की सज्ञा दी। उसने तेरह की सख्या को लेकर वह नाम पुकारा। नाम चल पडा। आचार्य भिक्षु मेवाड मे थे। उन्हे इसका पता चला। वे सख्या मे कोई तत्त्व नही देखते थे। उन्होने कहा—'प्रभो! तेरा पथ है। मैं इसका एक पथिक हू।' इस प्रकार आचार्य भिक्षु के सघ का नामकरण हो गया। पहले के भीखणजी अब 'तेरापथ भीखण' कहलाने लगे।

शिष्य-समुदाय बढने लगा। साधु बने, साध्विया बनीं, श्रावक-श्राविकाए भी बने। वे अपनी गति से चलते चले। कठोर अनुशासन और मजबूत सगठन के लिए वे अपने ढंग के अकेले ही व्यक्ति थे। उनकी दिव्य-दृष्टि और शुद्धनीति से सघ की आत्मा बलवान् बन गई। सोलह वर्ष की अनुभव-परीक्षा के बाद उन्होने भारमलजी

को अपना उत्तराधिकारी चुना। तब सघ का एक विधान भी लिखा। साधुओ का दिल लिया और बदले मे ये नियम दिए। जैसे—

१ तेरापथ गण एक आचार्य के नेतृत्व मे रहे।

२ शिष्य सब एक आचार्य के हो।

३ दीक्षा आचार्य के नाम से दी जाए।

४ विहार, चातुर्मास, धर्म-प्रचार आदि सब आचार्य के आदेशानुसार किए जाए।

५ भावी आचार्य का निर्वाचन पूर्वाचार्य करें।

६ पुस्तकें सघपति के निश्राय मे रहें, आदि-आदि।

उनके सम-सामयिक साधुओ ने भी ऐसा ही चाहा और इस नियमावली को सहर्ष अगीकार किया।

साधु-सघ को आचार-कुशल रखने के लिए, शिष्य-लोलुपता को अपनी मौत मरने देने के लिए ऐसा विधान जरूरी था। विधान की पृष्ठभूमि मे उन्होंने अनुशासन का वातावरण बनाया। वे कवि बनकर साधुओ के दिल तक पहुचे और शासक बन दिमाग पर घूमे। उनकी शिक्षाए और शासनाए अमिट बन गई। उन्होने जो कहा था—साधुओ! साध्वियो!

१ नियम हृदय को साक्षी बनाकर पालो।

२ सकोच ला कोई सघ मे मत रहो।

३ स्वेच्छाचारिता मत रखो।

४ नियमानुवर्ती बनो।

५ जो कुछ मन मे आए, वह आचार्य को कह दो।

६ आचार्य कहे वह मानो, समझकर या श्रद्धा से।

७. आचार्य के कार्य-कलाप मे हस्तक्षेप मत करो।

८ आपस मे हेत रखो।

९ आचार से सम्बन्ध रखो, व्यक्ति से नही।

१० किसी मे दोष देखो तो तत्काल उसे जता दो, गुरु को जता दो, दूसरो को मत कहो।

११ बडों का सम्मान करो।

१२ छोटो के साथ मृदु व्यवहार करो।

१३ दैनिक कार्यों को बाट लो—बारी से करो।

१४ अपनी पाती का खाओ, पीओ, पहनो, पाती की जगह मे बैठो, सोओ; पाती मे सन्तोष मानो।

१५. रोगी साधु-साध्वी की अग्लान और नि स्वार्थ भाव से सेवा करो।

१६ गण, गणी के सम्बन्ध को पुष्ट करो। गण के हित को अपना हित और अहित को अपना अहित समझो।

१७ गण के किसी भी अग की उतरती मत करो।

१८ दलबन्दी मत करो।

१९ यह गण सबका है, इसे अपना समझो और अपना-अपना दायित्व निभाओ।

२० गुरु की दृष्टि को देखकर चलो, आदि-आदि।

आचार्य भिक्षु स्थितिपालक नही, सुधारक थे। उन्होने परिवर्तन किए और ऐसे किए, जिनके लिए इतिहास के पृष्ठ खाली पड़े थे। भगवान् महावीर की शासन-व्यवस्था मे सात पद थे। परम्परा से वे चले आ रहे थे। वे तब आत्म-साधना के पोषक थे किन्तु आज उनकी पोषकता समाप्त हो चली थी। वे साधना-पथ को कटीला बना रहे थे। आचार्य भिक्षु ने सारी चेतना आचार्य को सौंप दी। सात ही पदो का कार्य आचार्य मे केन्द्रित कर दिया।

अपना-अपना चेला बनाने की जो प्रथा थी, उसकी जड ही काट दी। जिस-तिस को मूड चेला बनाने वालो की उन्होने पूरी खबर ली। 'चेला करण री चलगत ऊधी,' 'विकला नै मूड किया भेला'—उनके ये प्रसिद्ध पद्य आग्नेय-अस्त्र से कम नही हैं। वे मतवाद और बाडाबन्दी के घोर विरोधी थे। मतवाद चलाने के लिए जो चलते है, चेला परम्परा बढाते हैं, वे साधना से परे हैं—इस विचार को वे आत्म-विश्वास के साथ प्रचारित करते रहे। आचार्य भिक्षु ने बाहर से सघ को बाधा और अन्तर मे नीतिनिष्ठ बना उसे मुक्ति दी। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा—'प्रभो! आपका यह सघ कब तक चलेगा?' वे बोले—'जब तक साधु-सघ की नीति विशुद्ध रहेगी और आचार कुशल रहेगा, तब तक सघ को आच भी आने वाली नही है।' वे शुद्ध विचार की आधार-शिला शुद्ध आचार को मानते थे। आचार शुद्ध बने बिना विचार शुद्ध बन नही सकते। ये ही कारण है, उन्होने आचार-शुद्धि पर अधिक बल दिया। उन्होने विधान लिखा, उसका उद्देश्य बताया है— चारित्र शुद्ध पले और 'न्याय मार्ग चले', इसलिए मैंने यह उपाय किया है। वे आदि से अत तक—

> कहो साधु किसका सगा, तडके तोडे नेह।
> आचारी स्यू हिल मिलै, अणाचारी नै छेह॥

इसी विचार के पोषक रहे। उन्होंने अपने जीवन-काल में १०५ शिष्य किए। नमें से ३७ शिष्य अलग हो गए या कर दिए गए, फिर भी वे शिथिल मार्ग पर

चलने को राजी नही थे। वे अभय थे। लोकैषणा उन्हे कभी विचलित नही कर सकी। सत्य की साधना में उनका जीवन बीता। उन्हे कटु सत्य भी सुधा-घूंट की तरह पीना पडा किन्तु वे असत्य के लिए सत्य की बलि करने को तैयार नहीं हुए। उन्होंने मोह-अनुकम्पा को धर्म नही माना। भगवान् महावीर ने गोशालक पर मोहानुकम्पा की। इसे वे धर्म कैसे मान सकते थे ? यह बडी समस्या थी। भगवान् भगवद्-दशा मे वीतराग और सब दोषो से परे होते हैं। साधनाकाल मे उनमे भी राग-द्वेष की परिणति हो सकती है किन्तु साधारण लोग अति-भक्तिवश ऐसा नही सुन सकते। आचार्य भिक्षु भगवान् महावीर के अत्यन्त श्रद्धालु थे। फिर भी वे चले तत्त्व-विशलेषण करने, इसलिए उन्हे कटु सत्य की कडवी घूंट पीनी पडी। उन्होंने लिखा

'छ लेश्या हुती जद वीर मैं, हुता आठू ही कर्म।
छद्मस्त चूका तिण समय, कोई मूरख थापै धर्म॥'

इस पद्य को उनके शिष्य भारमलजी स्वामी ने देखा। वे आचार्य भिक्षु से कहने लगे—'गुरुदेव ! यह पद्य बहुत कटु है।' आपने कहा—'असत्य तो नहीं है ?' वे बोले—'है तो सत्य।' आप बोले—'सत्य है तब रहने दो।' लोगो मे विरोध होना था सो हुआ ही। इसको लेकर आचार्य भिक्षु को बहुत कुछ सहना पडा। अनेक लोगो ने आचार्य भिक्षु को 'दया के विरोधी', 'दान के विरोधी' और 'भगवान महावीर को चूका बताने वाले' के रूप मे पहचाना।

यह उनकी सही पहचान नही है। उनकी पहचान के लिए हमे कुछ गहराई मे जाना होगा। उनका दृष्टिकोण समझना होगा। वे अहिंसा के बहुत बडे भाष्य-कार हुए है। उन्होने दृष्टि दी है, उसे हम धर्म-सकट के प्रश्न खडे कर टाल नही सकते। उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा तत्त्व-दर्शन का मनन करें। तभी हम उनके कृतज्ञ बन सकेंगे।

आचार्य भिक्षु का अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

तेरापथ का इतिहास दान-दया के सघर्ष का इतिहास है। आचार्य भिक्षु से लेकर आज तक—दो शताब्दियो मे यह विषय बहुत चर्चा गया है। इसका अध्यात्म-वाद एक गूढ पहेली बना हुआ है। मूल तत्त्व तक पहुचने वाले बिरले होते हैं। सिद्धान्त के बाहरी कलेवर मे उलझने वाले सहसा नही सुलझते।

आचार्य भिक्षु ने बताया—बलात् हिंसा छुड़ाना धर्म नही। लोभ या लालच डालकर हिंसा छुडाना धर्म नही। जीने की और मरने की इच्छा करना धर्म नहीं। असंयम का पोषण धर्म नही। पौद्गलिक शान्ति धर्म नहीं। वासना की पूर्ति धर्म

नही। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति धर्म नही। राग या आसक्ति धर्म नही। क्रोध या द्वेष धर्म नही। मोह या अज्ञान धर्म नही। बडो के लिए छोटो को कुचल डालना धर्म नही। राज्य धर्म नही। समाज धर्म नही व्यक्ति धर्म नही। जीना धर्म नही। मरना धर्म नही। पाना धर्म नही। खोना धर्म नही। एक शब्द मे प्रेयस् धर्म नही। और बताया श्रेयस् धर्म है। त्याग धर्म है। तपस्या धर्म है। ज्ञान बढे—आत्मा जगमगा उठे, यह धर्म है। दर्शन बढे, श्रद्धा बढे, यह धर्म है। एक शब्द मे अहिंसा धर्म है।

अहिंसा ही दान है, अहिंसा ही दया है। सूक्ष्म हिंसा का भाव भी दया नही है, दान नही है। कोई प्राणी नही मरता, कोई अन्याय नही होता, न समाज जिसे बुरा मानता है और न राज्य, फिर भी यदि वह राग या मोह की परिणति है तो अध्यात्म-दर्शन के अनुसार वह हिंसा है, अधर्म है, बन्धन है, अशुभ कर्म है, पाप है, ससार है, मोह है, आसक्ति है, लोक-विधि है, लोक-धर्म है, सामाजिक कर्तव्य है, लौकिक रीति-रिवाज है। किन्तु मोक्ष का मार्ग नही है, साधना का मार्ग नही है, मोक्ष-धर्म या आध्यात्मिक-धर्म नही है। आचार्य भिक्षु ने बताया कि समाज की आवश्यकताओ को धर्म की ओट ले पूरा करना दोहरी भूल है। यह रूढ़िवादी परम्परा पर तलवार बनकर चली। यह क्रान्ति का शख स्थितिपालको को चुनौती देते हुए बजा। आचार्य भिक्षु को विद्रोही घोषित किया गया। वे दान-दया के उत्थापक और भगवान् महावीर की वाणी के निन्हव कहलाकर भी भगवद्-वाणी की सच्ची उपासना करने लगे।

वे क्रान्ति मे खेले और क्रान्ति से जूझे। उनकी सत्य-निष्ठा, कठोरचर्या, अतर्क्य तितिक्षा और अदम्य उत्साह ने वातावरण को बदल डाला। आज भी वे प्रश्न नही मिटे, विरोध नही मिटा, फिर भी आचार्य भिक्षु की साधना और उनके शिष्य-परम्परा के जागरण का प्रभाव समझिए—हमारा अतीत का क्रान्तिकाल आज शान्तिकाल बनकर चल रहा है। हमे अपने सिद्धान्त की सचाई और स्थिरता मे अडिग विश्वास है। हमे लगता है—युग हमारे साथ चल रहा है। आज से दो शताब्दी पहले आचार्य भिक्षु ने धर्म को जो व्यक्तिवादी रूप दिया था, वह रूप आज के समाज-तत्र को भी मान्य हो रहा है। सामाजिक आवश्यकताओ को सामाजिक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न ही आज तक के समाज-विकास का सबसे अन्तिम और सबसे स्वस्थ परिणाम है। व्यक्ति की पूजीवादी मनोवृत्ति और अह को पोषण देने वाली दान-परम्परा के लिए आज की समाज-व्यवस्था मे स्थान नही है। दीनभाव को जन्म देने वाली प्रवृत्ति मे अब धर्म या पुण्य कहलाने की क्षमता नही रही है।

शब्द-रचना में मत उलझिए

यह मत भूलिए, क्रान्ति की भाषा मे ओज होता है और शान्ति की भाषा मे समन्वय। समय-समय पर भाषा बदलती है। प्रयोजन लिए भाषा बदलती है। प्रयोग का विकास होते-होते भाषा बदलती है। तत्त्व न बदले, तो भाषा बदले और फिर बदले,उसमे दोष क्या ? कुछ भी नही। भगवान् पार्श्वनाथ जिसे बहिर्धादान-विरमण कहते, उसे भगवान् महावीर ने अब्रह्म-विरमण और परिग्रह-विरमण कहा। भाषा जरूर बदली किन्तु भाव नही बदला। वे स्त्री-त्याग और परिग्रह-त्याग को एक महाव्रत मानकर चले। भगवान् महावीर ने उन्हे दो महाव्रत बना डाला और दोनो के लिए दो नए शब्द दिए। 'धर्म' शब्द का इतिहास देखिए। जो एक दो अर्थ मे व्यवहृत होता था, वह आज पचासो अर्थ लिए चल रहा है और वाद-विवाद का केन्द्र बन रहा है।

भगवान् महावीर की वाणी मे गति-तत्त्व धर्म है तो मोक्ष साधना भी धर्म है। वे गाव, नगर की व्यवस्था को धर्म कहते हैं तो इन्द्रिय-विकारो को रोकने को भी धर्म कहते है। उन्होने साधु के साथ धर्म जोडा तो पाप के साथ भी उसे छोडा नही।

इस पर चलिए—क्या शब्द एक है, इसलिए सबका तत्त्व एक होगा ? दूसरी ओर दृष्टि डालिए—क्या शब्द अनेक होने पर तत्त्व एक नही हो सकता ? सही समझिए—अपनी-अपनी मर्यादा मे दोनो बातें बनती है। एक शब्द अनेकता मे आ अनेक अर्थ बनाता है और अनेक शब्द एकता मे आ एक तत्त्व की व्याख्या देते है। कई लोग शब्द-रचना मे उलझ जाते है।

वस्तुवृत्या यह उलझन शब्द-प्रयोग का इतिहास और निक्षेप का तत्त्व न समझने का परिणाम है। मूल तत्त्व की सुरक्षा होनी चाहिए। आत्मा और शरीर को स्वस्थ रखते हुए परिस्थिति के अनुसार वेशभूषा बदलने का अधिकार है। यह सबको रहता है और रहेगा।

विवेकशील उत्तर-पद्धति

भगवान् महावीर ने आचाराग मे बताया है—उपदेश करते समय साधु को देखना चाहिए, सुनने वाले किस धर्म के अनुयायी है ? उनके विचार कैसे हैं ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समुचित मीमासा कर फिर धर्मोपदेश देना चाहिए। कारण साफ है। साधु का उपदेश लाभ के लिए होना चाहिए, लाभ वही आत्म-कल्याण। साधु वैसा उपदेश करे जो लोग सुनना ही न चाहें, तब लाभ कैसे बढ़े ? इसलिए

जैसे-जैसे पचा सके, वैसे-वैसे तत्त्व देना चाहिए। मूल बात है कि तत्त्व को अन्यथा कहना ही नही चाहिए। यथार्थ रूप मे उतना कहना चाहिए, जितना कहना अवसर के प्रतिकूल न हो, अलाभ न बढे।

सम्राट् अकबर ने हीरविजय सूरीश्वर से पूछा—'क्या आप सूरज और गगा को नही मानते ?' तब उन्होने कहा–'हम मानते हैं, वैसा शायद दूसरे नही मानते। देखिए—सहज बात है, अपने प्यारे का वियोग होने पर लोग रोटी-पानी तक भूल जाते हैं। सूरज के वियोग मे हम पानी तक नही पीते। क्या ऐसा प्यार कोई दूसरा करता है ? हम गगा के पानी को गन्दा नही करते। उसमे अपना मैल बहाने वाले उसे अधिक मानते हैं या हम ?'

पीपाड मे एक चारण भक्त था। उसका नाम था गेबीराम। वह लोगो को लपसी खिलाया करता था। कुछ लोगोने उसे भडकाया–'तुम जो लपसी खिलाते हो, उसमे भीखणजी पाप कहते है।' वह तुरन्त आचार्य भिक्षु के पास आकर बोला—'भीखण बाबा ! मैं भक्तो को लपसी खिलाता हू, उसमे क्या होता है ?' आचार्य भिक्षु ने कहा—'लपसी मे क्या डालते हो ?' उसने कहा—'गुड।' तब आचार्य भिक्षु ने कहा–'जितना गुड डाला जाता है, उतना ही मीठा होता है।' 'बहुत ठीक, बहुत ठीक'—यह कहकर वह चलता बना।

एक दूसरी घटना लीजिए—शोभाचन्द नामक एक व्यक्ति आचार्य भिक्षु के पास आकर कहने लगा—'आप भगवान् को उत्थापते (अस्वीकार करते) है ?'

आचार्य भिक्षु बोले—'हमने भगवान् की वाणी पर घर छोडा है, भला हम उन्हे कैसे उत्थापे?'

उसने कहा—'आप देवालय को उत्थापते है ?'

आचार्य भिक्षु बोले—'देवालयो का हजारो मन पत्थर होता है। हम तो सेर, दो सेर भी नही उठाते !'

उसने आगे फिर कहा—'आपने प्रतिमा उत्थाप दी। प्रतिमा को पत्थर कहते हैं।'

तब आचार्य भिक्षु ने कहा—'हम प्रतिमा को क्यो उत्थापें ? हमे असत्य बोलने का त्याग है। सोने की प्रतिमा को सोने की कहते हैं, चादी की प्रतिमा को चादी की कहते हैं, सर्वधातु की प्रतिमा को सर्वधातु की कहते हैं, पाषाण की प्रतिमा को पाषाण की कहते है।' ऐसा सुन उसका आवेग शान्त हो गया।

यह उत्तर-पद्धति निरकुश नहीं है। 'क्षेत्र, काल को समझकर चलना चाहिए'—इस भगवद्-वाणी के सहारे ऐसी पद्धति चलती है।

गुरु मन-द्रष्टा होते हैं। वे जानते हैं—किसे, कब, किस रूप में, कितना तत्त्व

देना चाहिए। साधारण व्यक्ति के लिए यह रहस्य रहस्य ही रहता है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—क्या देवो को सयमी कहना चाहिए ?

भगवान् बोले—नही, वे सयमी नही है।

—क्या उन्हे सयमासयमी कहना चाहिए ?

—नही, उनके नाम मात्र का भी सयम नही होता।

—क्या उन्हे असयमी कहना चाहिए ?

—नही, असयमी शब्द रूखा है—कठोर है।

—तो भगवन् ! क्या कहना चाहिए ?

तब भगवान् बोले—नो-सयमी—सयमी नही है, ऐसा कहना चाहिए।

यह एक शिक्षा है, जो हमे भाषा का उपयोग सिखाती है। यह सोलह आना सही है—तत्त्व यथार्थ रूप मे रखना चाहिए। उसे छिपाना कायरता है। यह भी एक महान् सत्य है कि तत्त्व रखने मे जितनी निर्भीकता होनी चाहिए उससे कही अधिक विवेक होना चाहिए। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा है—

'साची ने साची कहणी निसक स्यू, ते पिण अवसर जोय।'

तत्त्व-निरूपण का अर्थ यह है कि लोग समझें। तत्त्व-निरूपण करने वाला इससे पहले ही उन्हे उभार दे, यह विवेक नही होता। गुरु-तत्त्व-चर्चा मे कुशल वैद्य बनकर चलते है। कुशल वैद्य वह होता है, जो रोगी की मन स्थिति पर नियत्रण पा ले। पहले दिन ही रोग को उभारकर वह रोगी का हित साध नही सकता। जैसा सह सके, वैसा करते-करते वह रोग भी मिटा देता है और रोगी को भी डिगने नही देता।

जिज्ञासु या श्रोता को शब्द-प्रयोग से चौकाने वाला तत्त्व आचार्य दे नही सकता। अपवाद की दशा मे मत सोचिए। विषम स्थिति मे वैद्य को भी पहली बार कडवी घूट पिलानी पडती है। किन्तु सब जगह कडवी घूट पिलाने की बात सही नहीं होती। एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से कहा—'सूत्र मैं साधु ने जीव राखणा कह्या।' तब स्वामीजी बोले—'ए तो ठीक है—छै ज्यू रा ज्यू राखणा, किणहीनै दु ख देणो नही।'

आचार्य भिक्षु की रचना और उत्तर-शैली के मर्मज्ञ यह नहीं कह सकते कि वे एक ही भाषा को टालकर चले।

उन्होने एक ही तत्त्व को अनेक रूपों मे रखा। प्रश्नकर्त्ता की मन स्थिति, योग्यता और जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखा उसी के अनुसार वे चले। उदाहरण के रूप में देखिए—'किण ही पूछ्यो—भीखणजी ! कोई बकरा मारतां नै बचाया तिण नैं काई थयो ? तब स्वामीजी ने उत्तर दिया—ज्ञान सू समझाय नै हिंसा

छोडाया तो धर्म छै।'

आचार्य भिक्षु ने स्थान-स्थान पर ससार रो मार्ग, लोक रो मार्ग, ससार रो उपकार, ससार रो काम, लौकिक दया, लोक रो छादो, मुक्ति-धर्म नहीं, मोक्ष-धर्म नही आदि-आदि शब्दो का व्यवहार किया। आज हम लौकिक कर्तव्य, लौकिक उपकार, लौकिक दया, लौकिक धर्म, लौकिक पुण्य, लौकिक दान, आदि-आदि शब्दो का प्रयोग करते हैं, उनका आधार आचार्य भिक्षु के उपर्युक्त शब्द-प्रयोग है।

दया और दान लौकिक हो सकते है, उपकार और कर्तव्य लौकिक हो सकते हैं, देव और गुरु लौकिक हो सकने है तब धर्म और पुण्य लौकिक क्यो नही हो सकते ?

शब्द-रचना की प्रक्रिया

शब्द का मूल अर्थ पाने के लिए जैन आगम हमे निक्षेप-विधि देते हैं। हम प्रयुज्यमान शब्द के द्वारा किस अर्थ को बताना चाहते है, इस व्यावहारिक धर्म को स्पष्ट करना निक्षेप का ही काम है। लोक-धर्म शब्द की योजना जो हमे आगम सूत्र और उनके उत्तरवर्ती साहित्य मे मिलती है, का आधार निक्षेप-पद्धति ही है। लौकिक-पुण्य शब्द की रचना का आधार भी वही है। लौकिक-धर्म और लौकिक-पुण्य शब्द मन-कल्पित या भ्रम मे डालने वाले नही हैं। एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से पूछा—जो साधु व्रत नही पालते, साधु का वेश पहने हुए है, उन्हे आप साधु क्यो कहते हैं ? आचार्य भिक्षु ने उत्तर देते हुए कहा—जो साधुपन नही निभाता किन्तु साधु का नाम धराता है वह द्रव्य निक्षेप की दृष्टि से साधु ही कहलाएगा।[1]

धर्म शब्द के निक्षेप करते चलिए—(१) नाम-धर्म, (२) स्थापना-धर्म, (३) द्रव्य-धर्म, भाव-धर्म। द्रव्य-धर्म के दो भेद होते है—ज्ञातृ-शरीर-धर्म और भव्य-शरीर-धर्म। नो आगमत द्रव्य-धर्म तद्व्यतिरिक्त कहलाता है। इस (नो-आगमत -तद्व्यतिरिक्त-द्रव्य-धर्म) के तीन भेद होते हैं—(क) लौकिक धर्म, (ख) कुप्रावचनिक धर्म और (ग) लोकोत्तर धर्म। भाव-धर्म के दो भेद होते हैं—आगमत भाव-धर्म और नो-आगमत -भाव-धर्म। नो-आगमत -भाव-धर्म के तीन भेद होते हैं—लौकिक धर्म, कुप्रावचनिक धर्म और लोकोत्तर धर्म। इस शब्द-रचना के लिए अनुयोग द्वार का निक्षेप प्रकरण द्रष्टव्य है। सूत्रकृताग की निर्युक्ति और वृत्ति मे धर्म शब्द के निक्षेप इस प्रकार हैं—

'धर्म के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप होते हैं।[2] नाम,

१. भिक्षु-दृष्टांत ६८
२ सूत्रकृताग निर्युक्ति ९९-१०१

स्थापना को छोड दें। द्रव्य-धर्म के तीन भेद है—ज्ञ-शरीर, भव्य शरीर और तद्-व्यतिरिक्त। तद्-व्यतिरक्त के तीन भेद है—सचित्त, अचित्त, और मिश्र। जीवच्छरीर का जो लक्षण है उपयोग, वह सचित्त द्रव्य-धर्म है। अचित्त का जो स्वभाव है, वह अचित्त द्रव्य-धर्म है। मिश्र द्रव्य—दूध-पानी का जो स्वभाव है, वह मिश्र द्रव्य-धर्म है। गृहस्थो का जो कुल, नगर, ग्राम आदि का धर्म है अथवा गृहस्थो का गृहस्थो को जो दान-धर्म है, वह द्रव्य-धर्म है।

भाव-धर्म के दो भेद हैं—(१) लौकिक, (२) लोकोत्तर। लौकिक के दो भेद है—(१) गृहस्थ-धर्म, (२) पाखण्ड-धर्म। लोकोत्तर धर्म के तीन भेद है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र। यह धर्म ही परमार्थ दृष्टि से धर्म है। यही भाव-समाधि और भाव-मार्ग है। धर्म के दो भेद है—श्रुत और चारित्र अथवा इसके क्षमा आदि दस भेद है। भाव-समाधि का रूप भी ऐसा ही है। वास्तव मे ज्ञान, दर्शन, चारित्रात्मक मुक्ति-मार्ग ही भाव-धर्म है।'

पुण्य शब्द पर भी निक्षेप करते-करते हमे लौकिक पुण्य, कुप्रावचनिक पुण्य और लोकोत्तर पुण्य ऐसी रचना करनी होगी। धर्म और पुण्य का ही क्या, जितने भी सार्थक शब्द है, उन सबके लिए यह प्रक्रिया है। इसके आधार पर लौकिक आवश्यक, लौकिक सामायिक, लौकिक मगल, लौकिक विनय, लौकिक सेवा, लौकिक उपकार, लौकिक दान, लौकिक दया आदि शब्द-भण्डार की सृष्टि होती है और ये सब विशेषण-शब्द अपना अभिप्रेत अर्थ बताने की पूरी क्षमता रखते है।

विश्लेषण का मार्ग

स्याद्वादी के लिए—सत्यमार्गी के लिए यह आवश्यक है कि वह स्याद्वाद के सहारे वस्तु-स्थिति का विश्लेषण करे। यह कूटनीति या उलझन का मार्ग नही होता किन्तु यह दृष्टि को उदार बनाने वाला मार्ग है। परिव्राजक शुकदेव ने मुनि थावच्चा-पुत्र को पूछा—कुलथा भक्ष्य है या अभक्ष्य ? मुनि ने कहा—भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। कुलथा के दो अर्थ होते है—एक अनाज और दूसरा स्त्री। स्त्री कुलथा अभक्ष्य है। अनाज कुलथा सचित्त और अचित्त दो प्रकार का होता है। सचित्त कुलथा अभक्ष्य है। अचित्त कुलथा भी दो प्रकार का होता है—याचित और अयाचित। अयाचित अभक्ष्य है। याचित दो प्रकार का होता है—अनेषणीय और एषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य है। एषणीय दो प्रकार का होता है—अलब्ध और लब्ध। लब्ध भक्ष्य है।[1]

---

१ ज्ञाता ५

लोग सोचेंगे—यह कैसा उत्तर ! थोडे से प्रश्न पर कितने विकल्प किए हैं। प्रश्नकर्त्ता सब स्थितियो को विश्लेषणपूर्वक समझ सके, इसलिए ऐसा उत्तर देना स्याद्वाद की विधि है। ऐसा उत्तर प्रश्नकर्त्ता को जाल मे फासने के लिए नही, किन्तु दुविधा से परे रखने के लिए होता है। इस पर भी उत्तरदाता के दृष्टिकोण को कोई ठीक नही पकड सके, उसका क्या इलाज हो ?

रामगढ़ की बात है। आचार्यश्री तुलसी के पास बहुत सारे पडित एकत्र होकर आए। उनका प्रश्न अपना नही था। उसके पीछे भ्रान्त प्रचार था। उन्होने आचार्यप्रवर से पूछा—जीव बचाने मे क्या होता है ? धर्म या अधर्म ? आचार्य-वर ने उनकी भ्रान्ति को एकबारगी समेटते हुए कहा—कथचित् धर्म और कथ-चित् अधर्म। जो सयमी है, अहिंसक है, उन्हे बचाने मे धर्म है और जो हिंसक हैं, असयमी हैं, उन्हें बचाने मे अधर्म। तात्पर्य यह कि सयम की रक्षा धर्म है, असयम की रक्षा धर्म नही है।

आचार्य भिक्षु ने विरोधी प्रश्नो को सुलझाते हुए स्याद्वाद का बडा भारी उपयोग किया है। वे जहा अध्यात्म के दृष्टिकोण से देखते है और अध्यात्म की भाषा मे बोलते है, वहा हिंसायुक्त असयममय उपकारो को अधर्म, पाप, अशुभ-कर्म कहते है और जहा समाज के दृष्टिकोण से देखते हैं, वहा उन्ही को ससार का उपकार आदि-आदि कहते है। आचार्यश्री तुलसी सामाजिक कर्तव्यो को लौकिक धर्म कहते है, वहा कई व्यक्तियो को बडी कूटनीति लगती है और वे सिद्धान्त को छिपाने का आरोप लगाते नही सकुचाते। किन्तु आचार्यश्री की उत्तर-पद्धति का आधार पाने के लिए आचार्य भिक्षु के कुछ पद्यो पर मनन करिए। फिर विरोध नही दीखेगा। देखिए आचार्य भिक्षु ने लिखा है

"जीवा नै जीवा बचाविया हुवै ससार तणो उपगार।"[1]

यहा प्राण-रक्षा को ससार का उपकार कहा गया है। आगे चलिए—

बचावण वालो ने उपजावण वालो,
ए तो दोनू ससार तणा उपगारी।
एहवा उपगार करै आहमा साहमा,
तिण मे केवली रो धर्म नही छै लिगारी॥[2]

मरते जीव को बचाने वाला और जीव को पैदा करने वाला पिता, दोनो ससार के उपकारी है। ये पारस्परिक उपकार है। इनमे केवली का धर्म नही है। यहा 'केवली का धर्म नहीं है'—यह पद ध्यान देने योग्य है।

---

१. अनुकम्पा चौपई १२।८
२ वही. ११।४२

संसार तणा उपगार किया मैं,
जिण धर्म रो अंश नहीं छै लिगार।[1]

यहां जिन-धर्म नहीं, ऐसा कहा है किन्तु एकान्त-पाप नहीं कहा। इस प्रकार आचार्य भिक्षु ने अनेक शब्द व्यवहार में लिए हैं, जो पहले बताए जा चुके हैं।

१. अनुकम्पा चौपई ११।३६

२

अहिंसा के फलितार्थ

१ अहिसा का अर्थ प्राणो का विच्छेद न करना, इतना ही नही, उसका अर्थ है—मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियो को शुद्ध रखना।

२. जीव नही मरे, बच गए—यह व्यावहारिक अहिसा है, अहिसा का प्रासगिक परिणाम है। हिंसा के दोष से हिसक की आत्मा बची—यह वास्तविक अहिसा है।

३ हिसा और अहिसा का सम्बन्ध हिसक और अहिसक से होता है, मारे जाने वाले और न मारे जाने वाले प्राणी से नही।

४ निवृत्ति अहिसा है।

५ प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है, उनमे जो राग-द्वेष-रहित होती है, वह अहिसा और राग-द्वेष-सहित होती है, वह हिंसा है। दूसरे सजीव या निर्जीव पदार्थ केवल अहिसा के निमित्तमात्र बनते है। इसके आधार पर ही हिंसा के द्रव्य-भाव-रूप भेद किए है। द्रव्य-हिंसा का अर्थ है—केवल प्राणो का वियोग होना। भाव-हिंसा का अर्थ है—आत्मा के अशुभ परिणाम यानी राग-द्वेष-प्रमादात्मक प्रवृत्ति।

क्योंकि हिंसा की परिभाषा मे प्राण-वियोजन का स्थान व्यावहारिक और राग-द्वेष-युक्त भावना का स्थान नैश्चयिक है। हिसक वही कहा जा सकता है, जो रागादि दोष सहित प्रवृत्ति से प्राणो का विच्छेद करता है। कष्ट पहुचाता है या निर्जीव पदार्थों पर भी अपनी प्रमादात्मक प्रवृत्ति करता है। जहा प्राणियो की घात होती है, वहा-राग-द्वेष-रहित भावना कैसे हो सकती है? इस प्रश्न का निर्णय हमे यो कर लेना चाहिए कि उन सयमी पुरुषो की न तो जीव-हिंसा की भावना ही है और न वे इस प्रकार की क्रिया ही करते हैं तथापि देहधारी होने के कारण उनके द्वारा जो हिंसा हो जाती है, वहा उनकी भावना का राग-द्वेष से कोई सम्बन्ध नही है।

प्रश्न —उक्त निर्णय से नई और जटिल समस्या पैदा होती है, वह यह है कि इस सिद्धान्त से प्रत्येक मनुष्य भी हिंसा करता हुआ अपने को अहिंसक कहने का साहस कर सकेगा। क्योकि उसके पास 'मेरी भावना शुद्ध है'—यह एक अमोघ साधन आ जाता है।

उत्तर —उक्त निर्णय प्राणी मात्र के लिए चरितार्थ नही, यह केवल सयमी पुरुषो पर ही लागू होता है। वे अहिंसा के उपासक है, उनका एकमात्र ध्येय अहिंसा है। वे हिंसा से सर्वथा पराड्मुख रहते हैं। इनसे भिन्न जो असयमी पुरुष है, उनके लिए उपर्युक्त निर्णय ठीक नही। क्योकि न उनके मन, वचन एव शरीर सयत है और न हिंसक-प्रवृत्तियो से सर्वदा विमुख रहने का उन्होने निश्चय ही किया है। वे हिंसा मे जुटे हुए है अतएव उनके द्वारा जो प्राणी-वध होता है या किया जाता है, वह हिंसा ही है, अहिंसा नही।

प्रश्न—सयमी पुरुषो के लिए जो विधान किया जाता है, क्या उससे उनमे शिथिलता की सम्भावना नही ?

उत्तर—नही। क्योकि सयमी पुरुष भी असावधानी से जो करते है, वह सब हिंसा है। इस दृष्टि से वे और अधिक सावधान रहते है। अहिंसक होने पर भी हम कही हिंसक न बन जाए—इसका उन्हे हर समय विचार रहता है। सहज ही एक प्रश्न हो सकता है कि सयमी जन भी सब वीतराग नही होते तो फिर उनकी भावना राग-रहित कैसे मानी जा सकेगी ? इसका उत्तर है—सतो पि कषायान् निगृह्णाति सो पि तत्तुल्य —कषाय-सहित होते हुए भी वे सयमी जन कषाय का निग्रह कर सयत-प्रवृत्तियो से अहिंसक बन सकते है।

६ अहिंसा का सम्बन्ध जीवित रहने से नही, उसका सम्बन्ध तो दुष्प्रवृत्ति की निवृत्ति से है। निवृत्ति एकान्त रूप से अहिंसा है—यह तो निर्विवाद विषय है पर राग, द्वेष, मोह, प्रमाद आदि दोषो रहित प्रवृत्ति भी अहिंसात्मक है। जैसे कि दशवैकालिक सूत्र मे एक वर्णन है—

शिष्य—प्रभो! कृपा करके आप बताए कि हम कैसे चलें, कैसे खडे हो, किस तरह बैठें, किस प्रकार लेटे, कैसे खाए और किस तरह बोले, जिनसे पाप-कर्म का बन्ध न हो ?[१]

गुरु—आयुष्मन्! यत्नापूर्वक चलने से, यत्नापूर्वक खडे होने से, यत्नापूर्वक बैठने से, यत्नापूर्वक लेटने से, यत्नापूर्वक भोजन करने से और यत्नापूर्वक बोलने से पाप-बन्ध नही होता।[२]

---

१ दशवैकालिक ४।७

२ वही, ४।८

साराश यह है कि सत्पुरुषो का खाना, पीना, चलना, उठना, बैठना, आदि जीवन-क्रियाए, जो अहिंसा-पालन की दृष्टि से सजगतया की जाती है, वे सब अहिंसात्मक ही है।

७ अहिंसा त्याग मे है, भोग मे नही। अहिसा आत्मा का गुण है। अहिंसा से हमारा कल्याण इसलिए होता है कि वह हमे हिंसा के पाप से बचाती है और हमारा कल्याण वही है कि हम अपनी असत् प्रवृत्ति के द्वारा किसी को भी कष्ट नही पहुचाए और न मारे। हम नही मारते है, वह अहिंसा है किन्तु हमारी अहिंसा-त्मक प्रवृत्ति के द्वारा जो जीव जीवित रहते है, वह अहिंसा नही।

चोर चोरी नही करता, वह उसका गुण है किन्तु चोर के चोरी न करने से जो धन सुरक्षित रहता है, वह उसका गुण नही है। एक व्यक्ति अपनी आशाओ को सीमित करता है अथवा उपवास करता है, उसे उपवास करने का लाभ होता है परन्तु उसके उपवास करने से जो खाद्य पदार्थ बचे रहते है, उनसे उसकी कोई आत्मशुद्धि नही होती।

अहिंसा की मर्यादा · आत्म-रक्षा

रक्षा का सामान्य अर्थ है बचाना। इससे सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्न चार है—रक्षा किसकी ? किससे ? क्यो ? और कैसे ? प्रत्येक प्रश्न के दो विकल्प बनते है

१ रक्षा शरीर की या आत्मा की ?

२ रक्षा कष्ट से या हिसा से ?

३ रक्षा जीवन को बनाए रखने के लिए या सयम को बनाए रखने के लिए।

४ रक्षा हिंसात्मक पद्धति से या अहिंसात्मक पद्धति से ?

अहिंसात्मक पद्धति द्वारा सयम को बनाए रखने के लिए, हिंसा से आत्मा को बचाने की वृत्ति का नाम है—आत्म-रक्षा।

हिंसात्मक पद्धति द्वारा जीवन को बनाए रखने के लिए कष्ट से बचाव होता है, वह शरीर-रक्षा है।

वास्तव मे शरीर-रक्षा और आत्म-रक्षा—ये दोनो लाक्षणिक शब्द हैं। इनका तात्पर्यार्थ है—हिंसात्मक प्रवृत्ति द्वारा विपदा से बचने का प्रयत्न करना शरीर-रक्षा और हिंसा से बचने का प्रयत्न करना आत्म-रक्षा।

साध्य जैसे शुद्ध हो, वैसे साधन शुद्ध होने चाहिए। आत्म-रक्षा के लिए साध्य और साधन दोनो अहिंसात्मक होने चाहिए। थोड़े मे यू कहा जा सकता है—

आत्म-रक्षा का अर्थ है—आत्म-मुक्ति। इसके साधन है

१ धार्मिक उपदेश।

२ मौन या उपेक्षा।

३ एकान्त-गमन।[1]

१. 'हिंसा करना उचित नही'—इस प्रकार हिंसक को समझाना, उसकी हिंसा करने की भावना को बदलने का प्रयत्न करना—धार्मिक उपदेश है।

२ धार्मिक उपदेश द्वारा प्रेरणा देने पर भी वह न समझे तो मौन हो जाना, उसकी उपेक्षा करना—यह दूसरा साधन है।

३ धार्मिक उपदेश काम न करे और मौन न रखा जा सके, उस स्थिति मे वहा से हटकर एकान्त मे चले जाना—यह तीसरा साधन है।

भगवान् महावीर ने हिंसा से बचने के लिए ये तीन साधन बताए है। ये तीनो अहिंसात्मक है, इसलिए आत्म-रक्षा की मर्यादा के अनुकूल है। हिंसात्मक साधनो द्वारा कष्टो से बचाव किया जा सकता है, हिंसा से नही।

हिंसक के प्रति हिंसा बरतना, बल-प्रयोग करना, प्रलोभन देना—यह अहिंसा की मर्यादा मे नही आता। अहिंसा की मर्यादा वह है कि अहिंसक हर स्थिति मे अहिंसक ही रहे। वह किसी भी स्थिति मे हिंसा की बात न सोचे। अहिंसक पद्धति से हिंसा का विरोध करना अहिंसा-धर्मी का कर्तव्य है। वह अहिंसा के लिए अपने प्राणो तक का त्याग कर सकता है परन्तु अहिंसा के लिए हिंसा का मार्ग नही अपना सकता। दोनो प्रकार की रक्षा के आठ विकल्प बनते है

१ जीवन को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

२ सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

३ जीवन को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

४ सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

५ जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

६ सयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा कष्ट से बचाव।

७. जीवन के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

८ सयम के लिए अहिंसात्मक पद्धति द्वारा हिंसा से बचाव।

इनमे पहले चार विकल्प शरीर-रक्षा के है।

---

१ स्थानांग ३।३।७२ —वृत्ति—

अहिंसा का उद्देश्य

जीवन को बनाए रखना, यह अहिंसा का उद्देश्य नही है। उसका उद्देश्य है—सयम का विकास करना।

सयम का विकास जीवन-सापेक्ष है। जीवन ही न रहे, तब सयम का विकास कौन करे? अत सयम का विकास करने के लिए जीवन को बनाए रखना आवश्यक है। इस प्रकार जीवन को बनाए रखना भी अहिंसा का उद्देश्य है—यह फलित होता है। यह प्रश्न हो सकता है किन्तु अहिंसा का सीधा सम्बन्ध सयम से है, इसलिए इसे कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। जीवन बना रहे और सयम न हो तो वह अहिंसा नही होती। सयम की सुरक्षा मे जीवन चला जाए तो भी वह अहिंसा है। आगे के सयम के लिए वर्तमान का असयम सयम नही बनता, आगे की अहिंसा के लिए वर्तमान की हिंसा अहिंसा नही बनती। इसलिए जीवन को बनाए रखना, यह अहिंसा का साध्य या उद्देश्य नही हो सकता।

साधन-मीमासा मे इतना ही बस होगा कि अहिंसा के साधन हिंसात्मक नही हो सकते।

स्वरूप-मीमासा—अहिंसा का स्वरूप है असयम से बचना, सयम करना। कष्ट सयम हो सकता है और सुख असयम, इसलिए कष्ट से बचाव करना और सुख प्राप्त करना यह अहिंसा का स्वरूप नही बन सकता। उपवास व अनशन जैसी कठोर तपस्याए कष्टकर अवश्य है, फिर भी अहिंसात्मक है। भोगोपभोग सुख है, फिर भी हिंसा है। अहिंसा की दृष्टि सयम की ओर होनी चाहिए। अमुक कष्ट से बचा या नही बचा, अहिंसा के लिए यह शर्त नही होती। उसकी शर्त है—असयम से बचा या नही। पहले विकल्प के तीनो रूप शरीर-रक्षा की कोटि के है।

इसमे साध्य सही है। साधना की प्रक्रिया साध्य के प्रति भ्रम उत्पन्न करती है। सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधन बरते जाए, वहा सयम नही रहता। इसलिए सयम को बनाए रखने के लिए हिंसात्मक साधनो का अपनाना मानसिक भ्रम जैसा लगता है।

जीवन को बनाए रखने का उद्देश्य मुख्य होने पर हिंसा से बचाव करने की बात गौण हो जाती है। सयम जीवन से अलग नही होता। सयम को बनाए रखने के साथ जीवन का अस्तित्व अपने-आप आता है। इसलिए अहिंसा का रूप जीवन के अस्तित्व को प्रधानता नही देता। उसमे सयम की प्रधानता होती है।

सयम को बनाए रखने के लिए हिंसा से बचाव करना, यह सही है किन्तु हिंसा से कैसे बचा जाए, इसका विवेक होना चाहिए। हिंसा से बचाव करने के

लिए हिंसात्मक साधन अपनाए जाए वहा न संयम बना रहता है और न हिंसा से बचाव होता है। इसलिए चौथा विकल्प भी आत्म-रक्षा की भावना नहीं देता।

पाचवे विकल्प मे साधन-पद्धति को छोड शेष अहिंसा की दृष्टि के अनुकूल नही हैं।

छठे विकल्प मे कष्ट से बचाव करने और सातवें मे जीवन को बनाए रखने की बात मुख्य होती है, इसलिए ये भी अहिंसा के शुद्ध रूप का निर्माण नही करते। इन दो (छठे और सातवे) और पाचवें विकल्प को व्यावहारिक या सामाजिक अहिंसा कहा जाता है।

आठवा विकल्प अहिंसा का पूर्ण शुद्ध रूप है।

राग और द्वेष

असजती जीव को जीवणो वछे ते राग, मरणो वछे ते द्वेष, तिरणो वछे ते श्री वीतराग देव नो धर्म—भिक्षु स्वामी ने इस त्रिपदी मे राग-द्वेष के स्वरूप का निरूपण एव मध्यस्थ-भावना से धर्म का सम्बन्ध दिखाया है।

असयम—हिंसा की अविरति और परिणति असयम है।

सयम—हिंसा की विरति और आत्मरूप मे परिणति सयम है।

जो हिंसा की विरति भी न करे और उसकी परिणति भी न छोडे, वह असयमी है। स्थूल दृष्टि से हिंसक वह होता है जो किसी को मारे, और तब होता है जब मारे, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि मे एक व्यक्ति किसी जीव को अमुक समय मे नही मारता, फिर भी उसने मारने की विरति नहीं की, वह भी हिंसक है।[1]

जो हिंसक है, हिंसा की अविरति की दृष्टि से या प्रवृत्ति की दृष्टि से, वही असयती है। उसका जीवन या शरीर टिका रहे—ऐसी भावना राग है। वह मिट जाए—ऐसी भावना द्वेष है। वह सयमी बने—यह भावना वीतराग का मार्ग है—समता है।

राग-द्वेष जन्म-मृत्यु के कारण हैं, वीतराग-भाव शरीर-मुक्ति का। शरीर-मुक्ति की साधना मे शरीर टिका रहे या छूट जाए, यह उसकी शर्त नही होती। उसकी शर्त होती है—शरीर रहे तो सयम का साधन बनकर रहे और जाए तो सयम की साधना करते-करते जाए। इसीलिए कहा गया है—'असयमी जीवन और मौत की इच्छा मत करो।'[2]

---

१ स्थानांग १ सत्थमग्गी विसलोण, सिणेहोखारमंबिल।
बुप्पउत्तोमणोवाया, काउभावोय अविरई॥

२ सूत्रकृतांग १।३।४।१५

जो शरीर एकमात्र सयम का साधन बन जाए, जिसका निर्वाह सयम के लिए और संयम की मर्यादा के अनुकूल हो, वैसा शरीर बना रहे। इसमे जीने की इच्छा नही किन्तु यह सयम के साधन को बनाए रखने की भावना है।

जो शरीर असयम का साधन रहते हुए उचित आशिक सयम का साधन बन जाए, उसका निर्वाह केवल सयम के लिए और सयम की मर्यादा के अनुकूल नही होता, इसलिए वैसा शरीर बना रहे—यह भावना सयम-मार्ग की नही हो सकती। वह न रहे—यह भी नही हो सकती। कारण कि मरने से क्या होगा ? सयम न जीने से आता है और न मरने से। वह मोह का त्याग करने से आता है, इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—'समूचे ससारको समता की दृष्टि से देखने वाला न किसी का प्रिय करे और न किसी का अप्रिय।'[1]

कोई व्यक्ति जीवित रहे, तब सयम साध सके। वह जीता ही न रहे तो सयम कौन साधे ? इस पर से जीने की साधना भी सयम की मर्यादा के अन्तर्गत होनी चाहिए—ऐसा आभास होता है किन्तु वस्तुस्थिति यह नही है। जीने की वही साधना सयममय हो सकती है, जो सयम के लिए और सयम की मर्यादा के अनुकूल हो।

संयम के व्यवहित या दूरवर्ती साधन के सयममय होने का नियम नही बनता। जैन आचार्यों ने सन्निकर्ष (इन्द्रिय और पदार्थ के सयोग) को इसलिए प्रमाण नही माना कि वह पदार्थ-निर्णय का व्यवहित साधन है।[2] साधकतम साधन का ही साध्य के अनुरूप होने का नियम हो सकता है, सामान्य साधन का नही। वास्तव मे साधन वही होता है, जो साधकतम हो यानी अनन्तर हो—साध्य और उसके बीच मे कोई अन्तर न हो। परस्पर साधनो की शृखला इतनी लम्बी होती है कि उसका कही अन्त भी नही आता। उदाहरण के रूप मे—सयम के लिए शरीर, शरीर के लिए खान पान, खान-पान के लिए व्यापार, व्यापार के लिए पूजी, पूजी के लिए सग्रह-वृत्ति, सग्रह-वृत्ति के लिए आत्मा का विकार—इस प्रकार क्रम आगे बढता जाता है। समस्या आती है—इनमे से किसे सयम का साधन माना जाए ? आत्म-विकार को या सग्रह-वृत्ति को ? पूजी को या व्यापार को ? खान-पान को या शरीर को ? इनमे से एक भी सयम का स्वयभूत साधन नही है। साधन के लिए निम्नाकित अपेक्षाए होती है :

१ जिसकी प्रवृत्ति के बिना जो न बन सके और
२ जिसकी प्रवृत्ति होने पर जो अवश्य बने।

---

१ सूत्रकृताग १।१०।७
२ प्रमाणनयतत्त्वालोक १।४

शरीर के बिना सयम की साधना नही की जा सकती, इसलिए पहला अश मिलता है किन्तु शरीर की प्रवृत्ति होने पर सयम हो—यह दूसरा अश नही मिलता, इसलिए शरीर निरन्तर सयम का साधन नही रहता। शरीर-प्रवर्तक आत्मा है। उसके राग-द्वेष-रहित अध्यवसाय से जब शरीर प्रवृत्त होता है, तभी वह सयम का साधन बनता है। जो शरीर संयम का नैरन्तरिक साधन नही बना, उसके खान-पान आदि इस दृष्टि से सयममय माने जाए कि वह आगे जाकर सयमी बनेगा, यह तर्क-सगत नही बनता। इसलिए सयम का अनन्तर साधन मोह कर्म का विलय ही है। उसके सहचरित जो सयम की प्रवृत्ति होती है, वह समता है और जो मोह के उदय से सहचरित होती है, वह प्रिय हो तो राग और अप्रिय हो तो द्वेष।

जीवन और मृत्यु ससार-परिक्रमा के दो अनिवार्य अग हैं। ये दोनो कर्म-बन्धन के परिणाम हैं। इनमे अच्छाई या बुराई कुछ भी नही है। ये अपने-आप मे राग-द्वेष भी नही हैं, किन्तु ये प्राणियो की अन्तर्-वृत्तियो के प्रतीक हैं। जीवन प्रियता का और मृत्यु अप्रियता का प्रतीक है। कही जीवन के लिए द्वेष और मृत्यु के लिए राग भी बन सकता है। किन्तु जीने की इच्छा राग और मृत्यु की इच्छा द्वेष—ये लाक्षणिक है। इनका तात्पर्य है—प्रियता की इच्छा राग और अप्रियता की इच्छा द्वेष और प्रिय-अप्रिय-निरपेक्ष सयम की भावना—वीतराग भाव है।

असयमी जीवन की इच्छा करने के मुख्यतया तीन कारण हो सकते हैं—स्वार्थ, मोह और अज्ञान। यो तो असयमी जीवन की वह मनुष्य इच्छा करता है, जिसका असयत पुरुषो के द्वारा कौटुम्बिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय स्वार्थ सिद्ध होता हो, या उसे वह मनुष्य चाहता है, जिसका असयत व्यक्तियो के साथ प्रेम-बन्धन हो या जो व्यक्ति तत्त्व की गम्भीरता तक नही पहुचता। केवल भौतिक सुखो को सुख मानता है, वह असयमी जीवन को चाहता है। जैसे स्वार्थ और मोह स्पष्टतया राग हैं, वैसे ही यह अज्ञान भी मोह का निबिड रूप है, अत यह भी राग है। जीवित रहना ही धर्म है—यह भ्रान्त धारणा मोहवशवर्ती मनुष्य के ही होती है। असयत जीवो की मरने की इच्छा करने का कारण उद्वेग या विरोधी भावना है। वह तो द्वेष है ही। सयमी जीवन मृत्यु की इच्छा करना मध्यस्थ भावना है—अहिंसा का अनुमोदन है।

उक्त विवेचन से यह फलित हुआ कि असयमी जीवन और मृत्यु हिंसायुक्त होने के कारण साधना की दृष्टि से अभिलषणीय नही। सयमी-जीवन और मृत्यु अहिंसामय होने के कारण वाछनीय हैं। सयमी-जीवन की इच्छा केवल इसीलिए की जानी चाहिए कि सयम की आराधना हो और संयमी-मृत्यु की वांछा भी इसी

ध्येय से होनी चाहिए कि सयम की आराधना करते हुए प्राणान्त हो। सयमी-जीवन मे कोई मोह नही, केवल सयम की आराधना की भावना है। संयमी-मृत्यु मे कोई उद्वेग नही, केवल असयत अवस्था में न मरने का लक्ष्य है। अत' वे भावनाए राग-द्वेष-रहित हैं। इस प्रसग मे आचार्य भिक्षु रचित कई गाथाओं का अध्ययन उपयुक्त है

'जीने और मरने की इच्छा करने मे धर्म का अश भी नही। जो मनुष्य मोह-अनुकम्पा करता है, उसके कर्म का वश बढता है यानी वह कर्म-बन्धन की परम्परा से मुक्त नही हो सकता।'

'मोह-अनुकम्पा मे राग-द्वेष रहता है। उससे पाच इन्द्रियो के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, प्रमुख भोगो की वृद्धि होती है। अत वह (मोह-अनुकम्पा) अहिंसा नही। इस तत्त्व को अन्तर्-दृष्टि से देखो।'

'अपने असयम-जीवन की वाछा करना भी पाप है तो दूसरो के असयम-जीवन की वाछा करने से कौन सन्ताप को मोल ले ? अज्ञानी जीव मरना और जीना वांछते हैं और सुज्ञानी जीव समभाव रखते हैं।'

'एक व्यक्ति ने अपने को मृत्यु से बचा लिया, किसी दूसरे ने उसको सहयोग दिया और किसी तीसरे व्यक्ति ने उसे अच्छा समझा—इन तीनो मे मोक्ष कौन जाएगा ?'

'क्योकि इन तीनो मे से किसी के भी अविरति नही घटी और विरति के बिना मोक्ष की साधना नही हो सकती। इसका फलितार्थ यह है कि मोक्ष की साधना विरति (आशा-वाछा का त्याग करना) है। जीवित रहना न तो विरति है और न कोई अहिंसात्मक प्रवृत्ति ही। अतएव वहा धर्म या अहिंसा नही है। करना, करवाना और अनुमोदन करना, ये तीनो एक कोटि के हैं। जबकि अविरति युक्त जीवितव्य अहिंसा नही, तब उसे जीवित रहने मे सहयोग देना और उसका अनुमोदन करना अहिंसात्मक कैसे हो सकता है ?'

'जो जीने की वाछा करता है, वह ससार में पर्यटन करेगा और जो श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का पालन करता है और जो दूसरो से उनका पालन करवाता है, वह परम पद यानी मोक्ष को प्राप्त करता है।'

'सब जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। सब जीवो को सुख प्रिय है, दुख अप्रिय, इसलिए किसी को न मारना चाहिए और न कष्ट देना चाहिए—यह उपदेश हिंसा-निवृत्ति के लिए है।'

'न मारना और न कष्ट देना'—यह अपनी आत्मा का सयम है। 'सब जीव जीना चाहते हैं'—यह जीवों की स्वाभाविक मनोवृत्ति का निरूपण है।' सब जीव

जीना चाहते हैं।' इसलिए जीना धर्म है—यह नही होता। सब जीव भोग चाहते है, इसलिए किसी का भोग मत लूटो, यह उसका नैसर्गिक मूल्य है। भोग लूटना असयम है, इसलिए भोग मत लूटो—यह उसका धार्मिक मूल्य है। इसी प्रकार जीवन लूटना असयम है, इसलिए जीवन मत लूटो—यह उसका धार्मिक मूल्य है। किसी का सुख न लूटना और दु ख न देना—यह सयम है।

अहिंसा या सयम का मूल आत्मिक अहित का बचाव या आत्म-शुद्धि है। किसी की हत्या से निवृत्त होने का अर्थ उसके जीवन की इच्छा नही किन्तु हत्या से होने वाले पाप से बचने की भावना है। जीवन सयममय तभी सम्भव है, जब हमे यह भान हो कि दूसरे जीवो की घात करने से अपनी आत्मा की घात होती है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह मान लिया जाए कि राग से जो काम किया जाता है, वह अहिंसात्मक नही तो भी वह नियम परिचित व्यक्तियो पर ही लागू हो सकता है, सब जगह नही। जो अपरिचित व्यक्ति है, उसे न तो हम जानते हैं और न वह हमे जानता है। उस अपरिचित असहाय के हम भौतिक पदार्थों द्वारा सहायक बनें इसमे राग कैसे रह सकता है ? इसका उत्तर द्वेष पर दृष्टिपात करते ही हो जाता है। किसी एक अपरिचित विद्वान् की विद्वता पर असहिष्णुता आ जाती है, किसी एक अज्ञात व्यक्ति के सौन्दर्य को देखकर जलन पैदा हो जाती है। क्या वह द्वेष नही ? यदि है तो अपरिचित से द्वेप कैसे हो सका, जबकि राग नही हो सकता ? वास्तव मे राग-द्वेष का परिचित एव अपरिचित से सम्बन्ध नही है। किन्तु उनका जब तक आत्मा मे अस्तित्व रहता है, तब तक वे अपने-अपने कारणो के द्वारा प्रकट होते हैं। साहित्य के ग्रन्थो का अध्ययन करने वाले भली-भाति जानते है कि अवीत-राग पुरुषो के सामने जिस प्रकार की सामग्री आती है, उसके अनुकूल भाव बनकर वैसा ही रस बन जाता है। शृगार को उद्दीपन करने वाली सामग्री से शृगार रस, करुणोद्दीपक सामग्री से करुण—इस प्रकार यथोचित सामग्री से हास्य, बीभत्स आदि सब रस बनते हैं। इसी प्रकार राग-द्वेषोद्दीपक सामग्री से राग-द्वेष का प्रादुर्भाव होता है। प्राय दु खियारी दशा को देखकर स्नेह और अनुचित व्यवहार को देखकर द्वेष पैदा हो जाता है। राग अनादिकालीन बन्धन है, उसका अमित प्राणियो से सम्बन्ध है। भौतिक जीवन को पोषण करने की भावना उस बन्धन का ही फल है। प्रत्यक्ष मे हमे राग न भी मालूम देता हो पर अप्रत्यक्ष मे वह सक्रिय रहता है और वही बाह्य-क्रिया का जनक है। एक कवि ने स्नेह की परिभाषा करते हुए कहा है—

> दर्शने स्पर्शने वापि, भाषणे श्रवणे पि वा।
> यद् द्रवत्यन्तरंग, स स्नेह इति कथ्यते ॥

अर्थात् 'देखने से, छूने से, बातचीत करने से, सुनने से जो हृदय द्रवित हो जाता है, उसे स्नेह कहते हैं।' दर्शन और स्पर्शन स्नेह-उत्पत्ति के निमित्त बनते हैं— यह इससे स्पष्ट हो जाता है।

प्रेम सम्बन्ध और आपसी सहयोग सामाजिक जीवन के आधार बिन्दु है। उन्हे तोडने का कोई प्रश्न ही नही होता। विवेचनीय वस्तु है, उनकी कोटि का निर्णय। वही इस त्रिपदी मे किया गया है।

तत्त्व दो रूप

प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते है—अन्तरग और बहिरग या व्यावहारिक और पारमार्थिक या लौकिक और लोकोत्तर। वैदिक साहित्य मे इन्हे अपर और पर तथा जैन साहित्य मे द्रव्य और भाव भी कहा जाता है। मुण्डक उपनिषद् (१/१५) मे दो प्रकार की विद्याए बताई है – अपरा और परा। आवश्यक सूत्र (२ लोगस्स वृत्ति) मे समाधि के दो रूप बताए हैं—द्रव्य-समाधि और भाव-समाधि। आचार्य भिक्षु ने 'द्रव्य-लाभ' और 'भाव-लाभ', 'द्रव्य-कुआ' और 'भाव-कुआ', 'द्रव्य-साता' और 'भाव-साता', इनके दो-दो रूप बताए है।

आचार्य भिक्षु दया-दान के विरोधी नही थे। वे लौकिक धर्म को मुक्ति का धर्म मानने के लिए कभी तैयार नही थे, यह उनकी रचनाओ से स्पष्ट प्रतीत होता है। 'जो व्यक्ति लौकिक कार्यों को मुक्ति-धर्म मानते है, उनके लिए सूत्र (शास्त्र) शस्त्र की भाति परिणत हो रहे है। वे हिंसा का समर्थन कर कर्म बाध रहे है।' उनकी इस वाणी में 'मुगती रो धर्मो' जो है, वही मतभेद या विरोध का केन्द्र-बिन्दु है। लौकिक कार्यों को लोक-धर्म माना जाता तो उन्हे विरोध क्यो होता ? लोक-विधि के लिए लौकिक कर्तव्य, व्यवहार, सहयोग आवश्यक जो होता है, उसका विरोध करने वे क्यो चलते ? उनके समूचे विचार का थोडे मे सार यह है कि लोक-धर्म को मोक्ष-धर्म मत समझो। जो वस्तुए मोक्ष के लिए है, उन्हे मोक्ष के लिए समझो और जो ससार के लिए हैं, उन्हे ससार के लिए। ससार और मोक्ष का मार्ग एक नही है। ससार का मार्ग हिंसा का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग अहिंसा का। इसीलिए उन्होने लिखा है

'ससार नै मुक्ति रा मारग न्यारा, ते कठे न खावै मेलो।'

ससार-मार्ग और मोक्ष-मार्ग की द्विविधता बतलाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—'एक साहूकार के दो स्त्रियां थी। एक ने रोने का त्याग किया, वह धर्म का विवेक रखती थी। दूसरी धर्म का मर्म नहीं पहचानती थी। पति चल बसा। एक नही रोती; दूसरी रोती है। लोग आए। दूसरी की सराहना करने लगे—'यह

धन्य है, पतिव्रता है।' पहली, जो नही रोती, की निन्दा होने लगी—'यह पापिनी चाहती थी कि पति मर जाए। इसके आसू क्यो आएं?'

इस स्थिति मे सयमी किसे सराहे? जो नही रोयी उसे सराहेगा, यह प्रत्यक्ष है। ससार का मार्ग भिन्न है और मोक्ष का मार्ग भिन्न।[1]

अनुकम्पा . दो रूप

अनुकम्पा हृदय का द्रवीभाव या कम्पन है। वह अपने-आप मे बन्धन या मुक्ति कुछ भी नही है। मोहात्मक कम्पन बन्धन का और निर्मोहात्मक कम्पन मुक्ति का हेतु बनता है। पहला लौकिक है और दूसरा आध्यात्मिक। अनुकम्पा आध्यात्मिक ही होती है—ऐसा नियम नही। पौद्गलिक सुखपरक मानसिक एकाग्रता या ध्यान लौकिक होता है और आत्मपरक ध्यान आध्यात्मिक। ठीक यही बात अनुकम्पा के लिए है। भगवान् महावीर की वाणी मे देखिए—

अभयकुमार की अनुकम्पा कर उसके मित्र देव ने अकाल-वर्षा की।[2] यह अनुकम्पा आत्मपरक नही है।

दूसरा प्रसग मेरुप्रभ हाथी का है। उसने खरगोश की अनुकम्पा के लिए अपना पैर नीचे नही रखा, कष्ट सहा, सयम किया, यह दया आत्मपरक है, मोह-रहित है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है

'न मोहजन्या करुणामपीश! समाधिमास्थाय युगाश्रितोसि।' —'भगवन्! आपने मोहजन्य करुणा को कोई स्थान नही दिया[4]।'

श्रीमद्‌जयाचार्य ने लिखा है—'अनुकम्पा सावद्य निरवद्य नु न्याय कहै छै—जे मोह राग थकी हियो कपायमान हुवे ते सावद्य अनुकम्पा अनै वैराग थी हियो कपायमान हुवै ते निरवद्य अनुकम्पा[5]।'

श्रीमद् रायचन्द्र लिखते है

'हे काम! हे मान! हे सघ उदय! हे वचनवर्गणा! हे मोह! हे मोह-दया! हे शिथिलता!—तमे शा माटे अन्तराय करो छो? परम अनुग्रह करी ने हवे अनुकूल थाव अनुकूल थाव[6]।'

---

१ भिक्षु दृष्टांत १३०
२ ज्ञाता १
३. ज्ञाता १।२७
४. अयोगव्यवच्छेदिका १८
५ चर्चा रत्नमाला बोल २१२
६ तत्त्वज्ञान, पृ० १२६

अनुकम्पा शब्द को लेकर कोई आग्रह नही होना चाहिए। वह प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो प्रकार की हो सकती है। लौकिक दृष्टि से जो प्रशस्त है, वह आत्म-दृष्टि से अप्रशस्त और आत्म-दृष्टि से जो प्रशस्त है, वह लौकिक दृष्टि से अप्रशस्त हो सकती है। कृतपुण्य पिछले जन्म मे गरीब मा का लडका था। उसने किसी त्योहार के दिन सबको दूध-पाक खाते देखा। वह मा के पास आकर बोला—मा! मैं भी दूध खाऊगा नन्हे बच्चे की दीन वाणी ने उसे रुला दिया। पडोसियो ने यह देखा। उनके दिल मे अनुकम्पा आयी। उन्होने दूध, चावल आदि दिए। यह अनुकम्पा दान व्यवहार-दृष्टि से प्रशस्त है।

बन्दरो के यूथपति ने मुनि की अनुकम्पा की यानी भक्ति की। यह सयम की दृष्टि से प्रशस्त अनकम्पा है। इसी प्रकार मेतार्य ने क्रौंच पक्षी की अनुकम्पा की। वे जानते थे—स्वर्ण यव इस पक्षी ने खाए है। सानार ने उनसे पूछा किन्तु वे कुछ भी नही बोले। उनका हेतु था—प्राणी-दया। उन्होने सोचा—सही स्थिति बतलाने का अर्थ होगा—क्रौंच की मृत्यु। मैं उसका हेतु न बनू। इस अनुकम्पापूर्ण भावना से वे नही बोले, सयम मे स्थिर रहे, अपने प्राण न्योछावर कर दिए। यह है आत्म-दृष्टि से प्रशस्त अनुकम्पा या आत्म-विसर्जन।[1]

परिभाषा की दृष्टि से रागात्मक या करुणात्मक अनुकम्पा लोक-दृष्टि से प्रशस्त है। अरागात्मक या अहिंसात्मक अनुकम्पा आत्म-दृष्टि से प्रशस्त है।

शब्द की अनेकार्थकता के कारण बडी उलझनें पैदा होती है। भगवान् महावीर कहते है—राग और द्वेष—ये दो कर्म बीज है[2]—ये दोनो बन्धन है[3]। राग से किए हुए कर्मों का फल-विपाक पाप होता है[4]। दूसरी ओर उन्ही की वाणी मे 'धर्मानुराग' जैसा प्रयोग मिलता है और वह मुक्ति का हेतु माना गया है। राग शब्द के इस दो अर्थ वाले प्रयोग से हमे जानने को मिला कि असयम बढाने वाला राग ही कर्म का बीज, बन्धन और पाप फलकारक है। सयम के प्रति होने वाली अनुरक्ति केवल शब्दमात्र से राग है, वास्तव मे नही, इसलिए वह कर्म-बीज, बन्धन व पाप फलकारक नही है। इस दृष्टि को ध्यान मे रखते हुए पूर्वाचार्यों ने राग-द्वेष के दो-दो भेद कर डाले

१ प्रशस्त राग	१ प्रशस्त द्वेष
२ अप्रशस्त राग	२ अप्रशस्त द्वेष

१ आवश्यक वृत्ति मलयगिरि ८६९,८७०
२ उत्तराध्ययन ३२।७
३ आवश्यक श्रमणसूत्र ४
४. औपपातिक ६।१३३

अरिहन्त— जिन, सिद्ध, साधु और धर्म के प्रति होने वाला राग प्रशस्त है। दृष्टि-राग, विषय-राग और स्नेह-राग यह त्रिविध राग अप्रशस्त है।[1] यही बात द्वेष की है। अज्ञान और असयम के प्रति जो द्वेष होता है, वह प्रशस्त है और मोहोदय के कारण होने वाला द्वेष अप्रशस्त[2]। इस प्रकार हमे समझना होगा कि किसी भी शब्द को एक ही अर्थ मे बाधा नही जा सकता। इसलिए शब्द को लेकर खीचतान नही होनी चाहिए। अनुकम्पा मात्र मोक्ष का साधन है, यह भी एकान्त है। अनुकम्पा मोक्ष का साधन है ही नही—यह भी एकान्त है। हम सत्य को अनेकान्त दृष्टि से पा सकेंगे। उसके अनुसार जो अनुकम्पा राग-भावना-रहित है, वह मोक्ष की ओर ले चलती है, इसलिए वह उसका साधन है और रागात्मक अनुकम्पा प्राणी को मोक्ष की ओर नही ले जाती, इसलिए वह उसका साधन नही है। सार इतना ही है। इससे आगे जो कुछ है, वह सब प्रपच है।

अहिंसा और दया

अहिंसा और दया दोनो एक तत्त्व है। दया मे हिंसा या हिंसा मे दया कभी नही हो सकती। यदि हम इनको पृथक् करना चाहे तो निवृत्यात्मक अहिंसा को अहिंसा एव सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा को दया कह सकते है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम बतलाए है। उनमे ग्यारहवा नाम 'दया' है। टीकाकार मलयगिरि ने उसका अर्थ—'दया देहरक्षा'—देहधारी जीवों की रक्षा करना किया है। यह उचित भी है क्योकि अहिंसा (प्राणातिपात-विरमण) मे जीव-रक्षा अपने-आप होती है। मुनि सब जीवो के रक्षक होते है। इसका अर्थ यह नही कि दुनिया मे जो जीव मर रहे हैं या मारे जा रहे है, उनको वे येन-केन-प्रकारेण बचाते है। इसका सही अर्थ यही है कि अपनी असत् प्रवृत्ति से प्राणीमात्र को न कष्ट देते हैं और न मारते है। अहिंसा या दया की पूर्णता अपनी असत्-प्रवृत्ति का सयम करने से ही होती है या हो सकती है। कल्पना कीजिए कि दो व्यक्ति पशु-वध करने की तैयारी मे हैं, इतने मे सयोगवश वहा मुनि चले गए। मुनि ने उनके आत्म-कल्याण की भावना से उन्हे प्रतिबोध दिया। उनमे से एक ने हिंसा छोड दी और दूसरे ने मुनि का उपदेश नही माना। एक व्यक्ति ने हिंसा छोडी उससे मुनि की दया पूर्ण नही बनी और दूसरे ने हिंसा नही छोडी, उससे उनकी दया अपूर्ण नही बनी। यदि यो अपूर्ण बन जाए तब फिर कोई भी व्यक्ति पूर्ण दयालु बन ही नही सकता। पूर्ण दयालु हुए बिना आत्मा पूर्ण शुद्ध नहीं हो सकती, इसलिए

१ आवश्यक वृत्ति मलयगिरि ६१८
२ पंचास्तिकाय १४४

यह मानना पडता है कि दया की पूर्णता और अपूर्णता अपनी प्रवृत्तियो पर ही निर्भर है और इससे यह भी फलित होता है कि जीव-रक्षा या दया का सम्बन्ध अपनी सत्प्रवृत्ति से ही है। जो व्यक्ति अपनी बुरी प्रवृत्तियो का सयम करता है, प्राणी मात्र को अभय-दान देता है, वही जीव-रक्षक है और वही दयालु है।

सन्त तुलसीदास ने भी आत्म-दया की बडे सीधे-सादे शब्दो मे व्याख्या की है तथा नही मारने को दया बताकर अहिंसा और दया की एकता बताई है

'तुलसी दया न पार की, दया आपकी होय।
तू किण ने मारे नही, तो तनै न मारै कोय॥'

आचार्य भिक्षु ने दया का अर्थ बतलाते हुए यही लिखा है

'जीव जीवे ते दया नही, मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नही मारे ते दया गुण खान॥'

शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ये दो है। जैसे—हिंसा न करना—अहिंसा और रक्षा करना—दया। तात्पर्यार्थ मे दोनो एक हैं। अहिंसा निषेध-प्रधान है। जैसे—हिंसा मत करो—असत्-प्रवृत्ति का आचरण मत करो। दया विधि मुख है, जैसे—पालन करो, रक्षा करो। हिंसा नही होगी, वहा जीव-रक्षा अपने आप हो जाएगी और जीव-रक्षा मे हिंसा वर्जनी ही होगी। वही पहली बात है कि दयाशून्य अहिंसा और अहिंसाशून्य दया कभी नही हो सकती। महात्मा गाधी ने भी अहिंसा और दया का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है

'जहा दया नही, वहा अहिंसा नही।' अत यो कह सकते है कि जिसमे जितनी दया है उतनी ही अहिंसा है।'[१]

अहिंसा और दया के उद्गम-स्रोत

हिंसा का क्षेत्र व्यापक है। असत्य आदि उसके विभिन्न पहलू हैं। असत्य बोलना हिंसा है, चोरी हिंसा है, मैथुन हिंसा है, परिग्रह हिंसा है। इन सबमे अहिंसा भी नही, दया भी नही। सामाजिक व्यवहार का सर्वोपरि धर्म करुणा है, अहिंसा नही। अतएव वहा अहिंसा और दया की परिभाषा सर्वथा एक नही रहती। उस क्षेत्र मे उनका सम्बन्ध इस प्रकार का बनता है

अहिंसा मे दया का नियम और दया मे अहिंसा का विकल्प है। दया के बिना अहिंसा हो ही नही सकती, इसलिए अहिंसा मे दया के होने का नियम है। सामाजिक क्षेत्र मे दया के लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि भी प्रयुज्य माने जाते हैं, इसलिए दया मे अहिंसा का विकल्प है। जहा दया के लिए हिंसा का आचरण

१. गांधी-वाणी, पृ० १७

निर्दोष माना जाए, वहा ये दो हो ही जाती हैं।

मोक्ष-साधना का सर्वोपरि धर्म अहिंसा है। इसलिए यहा जो अहिंसा है, वही दया है। हिंसा किसी भी स्थिति मे दया नही हो सकती। इसलिए अहिंसा को 'सर्वभूतक्षेमकरी' कहा गया है।[१] मुनि सब जीवो की दया के निमित्त अपने लिए बना भोजन नही लेते।[२] भगवान् महावीर ने सब जीवो की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन किया[३]। भगवान् अहिंसा-प्रधान थे। उनकी दया अहिंसा से विमुक्त नही हो सकती। हिंसा को दया मानना या दया के लिए होने वाली हिंसा को अहिंसा मानना उन्हे अभीष्ट नही था। इसलिए उन्होने मोक्ष-धर्म को निषेध की भाषा मे ही रखा। उनकी वाणी के कुछ प्रसग और सवाद पढिए

भगवन् ! जीव अल्पायु-योग्य कर्म कैसे करते है ?

गौतम ! प्राणातिपात के द्वारा।

भगवन् ! जीव दीर्घायु-योग्य कर्म कैसे करते हैं ?

गौतम ! प्राणातिपात-विरमण के द्वारा।

भगवन् ! जीव अशुभ दीर्घायु-योग्य कर्म कैसे करते हैं ?

गौतम ! प्राणातिपान के द्वारा।

भगवन् ! जीव शुभ-दीर्घायु-योग्य कर्म कैसे करते है ?

गौतम ! प्राणातिपात-विरमण के द्वारा।[४]

सयम का अर्थ है—सुख का वियोग और दु ख का सयोग न करना।[५] सर्व जीवो के प्रति जो सयम है, वही अहिंसा है।[६] अहिंसा का आधार सयम है, करुणा नही। जर्मन विद्वान् अलबर्ट स्वीजर ने अहिंसा के आधार की मीमासा करते हुए लिखा है—यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमे न मारने, कष्ट न देने की ही सीमाए कैसे बध सकी और दूसरो को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है ? यह दलील कि सन्यास की भावना मार्ग मे बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोडी से थोडी करुणा भी इस सकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती है परन्तु ऐसा कभी नही हुआ।

अत अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर ससार से

---

१ प्रश्नव्याकरण, दूसरा सवर द्वार अहिंसा तस-थावर-सव्वभूय-खेमकरी।

२ सूत्रकृताग, टीका २।६।४०

३ प्रश्नव्याकरण, पहला सवर द्वार सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय।

४. भगवती ५।६

५ स्थानाग ४।४।३६ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ—दुक्खेण असंजोगेत्ता भवइ।

६ दशवैकालिक ६।८

पवित्र रहने की भावना पर आधारित है। यह मूलत कार्य के आचरण से नही, अधिकतर पूर्ण बनने के आचरण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीनकाल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियो के साथ सम्पर्क मे अकार्य के सिद्धान्त का दृढतापूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश मे सभी जीवो के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नही हुआ है। भारतीय सन्यास मे अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

आचाराग सूत्र मे (ईसा पूर्व ४-३) अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया गया है

भूत, भावी और वर्तमान के अर्हत् यही कहते हैं— किसी भी जीवित प्राणी को, किसी भी जन्तु को, किसी भी वस्तु को, जिसमे आत्मा है, किसी भी प्राणी को मारे नही, अनुचित व्यवहार न करे, अपमानित न करे, कष्ट न दे और सताए नही। धर्म का यही पवित्र, नित्य और मान्य उपदेश है कि जिसे जगत् के ज्ञाता सिद्ध पुरुषो ने घोषित किया है।

कई प्रकार से तो ऐसा भी होता है कि इस अहिंसा के प्रति बाध्यतापूर्ण अनुसरण की अपेक्षा इसे तोड देने मे अधिक करुणा-भाव की पूर्ति होती है। जब एक जीवित प्राणी के दु खो को कम नही किया जा सके तो दयापूर्वक उसे मरकर उसके जीवन का अन्त कर देना अलग खडे रहने से कही अधिक नीतिपूर्ण है। जिस पालतू जानवर को हम नही खिला सकते, उसे भूख के कष्टदायक मरण की अपेक्षा हिंसा द्वारा कष्ट-रहित शीघ्र अन्त कर देना अधिक करुणापूर्ण है। हम बार-बार अपने को ऐसी स्थिति मे पाते है, जहा यह जरूरी होता है कि हम एक जीवन को बचाने के लिए दूसरे जीवन का नाश या हनन करे।

अहिंसा स्वतत्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता के व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र मे पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतो का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।

परन्तु पुन कहना पडता है कि भारतीय विचारधारा—हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुचना—ऐसा ही कहती रही है। तभी वह शताब्दिया गुजर जाने पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है।[१]

१ इंडियन थॉट्स एण्ड इट्स डेवलपमेंट, पृ० ७९-८४

अलबर्ट स्वीजर ने अहिंसा को सयममूलक बताकर करुणा से उसे अलग किया है। इस विचार का 'सूत्रकृताग' मे मार्मिक समर्थन मिलता है। भगवान् महावीर ने अपने समय की 'सात सातेण विज्जइ'[1]—सुख देने से सुख मिलता है—इस विचारधारा का खण्डन किया और बताया कि ऐसे विचार मोक्ष के साधन नही बनते।

जीवन मे करुणा का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसमे कोई सन्देह नही किन्तु भूमिका बदलने पर उसका स्वरूप बदल जाता है। जननायक ऋषभनाथ जब राज्य-सचालन की भूमिका पर थे, तब उन्होने समाजहित के लिए विविध व्यवस्थाए की। इसका जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे उल्लेख आता है। वहा टीकाकार ने एक प्रश्न खडा किया है—भगवान् ऋषभनाथ निरवद्य—निष्पाप रुचि वाले थे, फिर भी उन्होने सावद्य—सपाप वृत्तियो को पैदा करने वाली कला आदि का उपदेश क्यो किया ? इसका उत्तर है—ये कार्य उन्होने करुणा-प्रधान वृत्ति से किए। जब व्यक्ति मे किसी एक रस का प्राधान्य होता हे, तब वह दूसरे रस की अपेक्षा नही रख पाता।[2]

दूसरा कारण बताया है—दायित्व से पैदा होने वाली कर्तव्य-बुद्धि। इसकी श्रेष्ठता के दो प्रमाण है—(१) परार्थता और (२) बहुगुण और अल्प-दोष। वही काय श्रेष्ठ कार्य कहलाता हे, जो दूसरो के लिए किया जाए और जिस कार्य मे लाभ अधिक हो और अलाभ कम।

ऋषभनाथ पहले राजा थे, इसलिए सभी प्रकार की व्यवस्थाए करना उनका कर्तव्य था। भूमिका बदली। वे राज्य छोड मुनि बने। आत्म-साधना की। केवली बने तब जाना और देखा कि यह मोक्ष-मार्ग है, वही मुझे और दूसरो के लिए हित, सुख, निश्रेयस्, सर्वदु खमोचक और परम-सुख का प्रापक होगा। फिर उन्होने महाव्रत-धर्म का निरूपण किया। यहा मोक्ष-मार्ग मे भी करुणा है, दूसरो के हित की बात है। अपनी अनुकम्पा की तरह दूसरो की अनुकम्पा भी मान्य है। किन्तु इसमे उसका (करुणा का) स्वरूप बदल जाता है। वह सुख-सुविधापरक न होकर व्रत-परक हो जाती है।

भगवान् महावीर दु ख के आत्यन्तिक विच्छेद की साधना मे लगे हुए थे। महात्मा बुद्ध करुणा-प्रधान थे। इनकी साधना और दृष्टि का भेद पन्यास मुनि श्री कल्याणविजय के शब्दो मे देखिए—'महावीर का खास लक्ष्य स्वय अहिंसक बनकर दूसरो को अहिंसक बनाने का था, तब बुद्ध की विचार-सरणि दु खितो के दु खोद्धार की तरफ झुकी हुई थी। ऊपर-ऊपर से दोनो का लक्ष्य एक-सा प्रतीत

---

१ सूत्रकृतांग ३।४।६,७
२ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, २ वक्षस्कार, वृत्ति

होता था परन्तु वास्तव मे दोना के मार्ग मे गहरा अन्तर था। महावीर दृश्यादृश्य दु:ख की जड को उखाड डालना मुख्य कर्तव्य समझते थे और बुद्ध दृश्य दु खोको दूर करना। पहले निदान को दूर कर सदा के लिए रोग से छुट्टी पाने का मार्ग बताने वाले वैद्य थे, तब दूसरे उदीर्ण रोग की शान्ति करने वाले डॉक्टर।[1]'

करुणा और करुणापूर्ण कार्य समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं, इसमे कोई दो मत नही, किन्तु मतभेद वहा होता है, जहां उनकी अहिंसात्मकता सिद्ध की जाती है, उन्हे मोक्ष-मार्ग की साधना कहा जाता है। अहिंसा के लिए हिंसा निम्न प्रकार से की जाती है और ऐसे कार्यों को निर्दोष, अल्प-हिंसा और बहु-अहिंसा के कार्य समझकर उन्हे धर्म माना जाता है। जैसे—

१ बडे जीव को बचाने के लिए छोटे जीवो का वध किया जाए, उसमे अल्प दोष और बहुत लाभ है, थोडी हिंसा और बहुत अहिंसा है। बडे जीवो की रक्षा मे मनुष्य को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

२ देवता और पूज्य अतिथि के लिए हिंसा करने मे दोष नही।

३ अनिवार्य हिंसा तथा धर्म की रक्षा के लिए हिंसा हो, वह निर्दोष है।

४ दु ख मिटा सकने की असमर्थता मे दु खी को मार डालना।

५ बहुत जीवो की रक्षा के लिए थोडे जीवो को मार डालना।

६ पाप से बचाने के लिए पापी को मार डालना।

७ कष्ट से सुख मिलता है, इसलिए मारे जाने वाले प्राणी सुखी होगे—इस दृष्टि से जीवो को मारना।

८ सबल के आक्रमण से निर्बल का रक्षण करने के लिए बल-प्रयोग करना, प्रलोभन आदि देना।

उक्त कार्यों मे अहिंसा का स्वीकार मानसिक भ्रम है। ये कार्य करुणापूर्ण या रक्षात्मक भले हो, अहिंसात्मक नही होते। जैन-विचारधारा इनके अहिंसात्मक होने का समर्थन नही करती। महात्मा गाधी इस युग के महान् अहिंसा-धर्मियो मे से एक हुए है। उन्होने राजनीति के क्षेत्र मे अहिंसा के अनेक प्रयोग किए। वे राष्ट्रीय दायित्व को सम्हाले हुए थे, इसलिए सेवा और करुणापूर्ण कार्यों का पथ-प्रदर्शन भी किया किन्तु फिर भी वे हिंसा और अहिंसा के विवेक मे बडे जागरूक रहे—ऐसा जान पडता है। उक्त प्रश्नो के विचार मे जैन-दृष्टि के साथ-साथ महात्मा गाधी के विचार भी अधिक उपयोगी होगे।

उक्त प्रश्नो की क्रमिक मीमासा—

१ एक बडे जीव की रक्षा के लिए अनेक छोटे-मूक जीवो का वध करना

१ जैन विकास, वर्ष ७, अक ६-७, 'भगवान महावीर और बुद्ध'

दया नहीं है, किन्तु स्पष्ट हिंसा है। इसे दया समझना मिथ्या ज्ञान है। एक मूढस व्यक्ति के लिए गरीबो का गला घोटना न्याय नही हो सकता। बडे जीवो के लिए छोटे जीवो को मार डालने मे दोष थोडा है और लाभ अधिक है—ऐसे सिद्धान्त अहिंसा के सनातन सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

बडो की सुख-सुविधा के लिए छोटे या क्षुद्र जीवो की हिंसा को क्षम्य मानने वाले प्रजा की सुख-सुविधा के लिए किए जाने वाले यज्ञो को धर्म या पुण्य नही मानते। प्रत्युत उनका विरोध करते हैं। इसका क्या आधार हो सकता है ? हजारों-लाखो मनुष्यो की सुख-शान्ति के लिए दस-बीस पशुओ की बलि का विरोध करते समय क्या वे अपने उक्त सिद्धान्त की अवहेलना नही करते ? भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध ने यज्ञ-बलि का विरोध किया, उनके अनुयायी आज भी करते आ रहे हैं। इसका आधार सर्व-भूत-समता है, बडो के लिए छोटे जीवो का सहार नही। मनुष्यो की रक्षा के लिए क्षुद्र जीव-जन्तुओ की हिंसा को धर्म-पुण्य मानने वाले यज्ञ-हिंसा का विरोध करे, यह न्याय नही हो सकता। जैनो को सोचना चाहिए कि बडो के लिए क्षुद्र जीवो की हिंसा मे वे अल्प-पाप और बहुत धर्म मान-कर किस दिशा की ओर चले जा रहे है।

महात्मा गाधी ने इस विचार की काल्पनिकता बताते हुए लिखा है—'माणस ने मारी ने माकड ने उगारवो ए धर्म होय, एवो प्रसग पण आववो शक्य होय छे। हू तो एक बन्ने जात ना प्रसग मा थी उवरी जावा नो मार्ग कहू छू। ते दया धर्म छे।'[1]

'बन्दर को मार भगाने मे मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूं। यह भी स्पष्ट है उन्हे अगर मारना पडे तो अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनो काल मे हिंसा ही गिनी जाएगी।'[2]

२ 'देवताओ के लिए भी हिंसा नही करनी चाहिए। कई व्यक्ति कहते हैं कि धर्म के कर्त्ता देवता ही है अत उन्हे मासादि की बलि देने मे दोष नही, यह कथन अविवेकपूर्ण है।[3]

इसी प्रकार पूज्य और अतिथि के लिए हिंसा करने मे दोष नहीं है—यह कहना भूल है।[4]

---

१ नवयुग, अक १७, पृ० १५९१, ता० २४ नवम्बर, १९२१

२ अपराधी जन्तु और गांधीजी, जैनभारती, मई, १९४८

३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४०५ धर्मोहि देवताभ्य प्रभवति, ताभ्य प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलिता धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्या॥

४ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८०,८१
पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यं नाऽतिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥

३ नही छोडी जा सकने वाली हिंसा अनिवार्य भले कहलाए पर वह अहिंसा नही हो सकती। महात्मा गाधी ने इसे बहुत स्पष्ट शब्दो मे समझाया है —'यह बात सच है कि खेती मे सूक्ष्म जीवो की अपार हिंसा है। कार्य मात्र, प्रवृत्ति मात्र, उद्योग मात्र सदोष है। खेती इत्यादि आवश्यक कर्म शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नही जाता है और मनुष्य ज्ञान, भक्ति आदि के द्वारा अन्त मे इन अनिवार्य दोषो से मोक्ष प्राप्त करके इस हिंसा से भी मुक्त हो जाता है।'[1]

धर्म के लिए जो हिंसा करता है, वह मन्द-बुद्धि है।[2] भगवान् का धर्म सूक्ष्म है, इसलिए 'धर्म के लिए हिंसा करने मे दोष नही'—यो धर्म-मूढ बनकर जीवो की हिंसा नही करनी चाहिए।[3] धर्म का स्वरूप ही अहिंसा है। उसके लिए भला हिंसा की कल्पना ही कैसे हो सकती है ? इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने इस पर आश्चर्यभरे शब्दो मे लिखा है—'अहो ! हिंसापि धर्माय, जगदे मदबुद्धिभि ।'[4]

महात्मा गाधी के शब्दो मे हिंसा से मत-रक्षा हो सकती है, धर्म-रक्षा नही। वे लिखते हैं

'धर्म एक व्यक्तिगत सग्रह छे। तेने माणस पोतेज राखी सके छे ने पोतेज खुए छे। समुदाय माज बचावी सकाय ते धर्म नही, मत छे।'[5]

४ दु ख मिटाने के लिए दु खी को मार डालने की बात भी अहिंसा की कोटि मे नही आती। दु ख-मोचन-सम्प्रदाय का मन्तव्य था—'जिसकी दु ख से छ्टने की आशा नही, वैसे दु खी या रोगी जीव को मार डालना चाहिए।' महात्मा गाधी की बछडे को मार डालने वाली घटना भी लगभग वैसी ही है। जैन-विचार इससे सहमत नही। कई जैन करुणा को परम धर्म मानने लगे है, उनकी बात मैं नही कह सकता। उनको उक्त कार्य मे आपत्ति हो ही नहीं सकती। मारने वाला केवल अनुकम्पा की बुद्धि से मारता है, किसी अन्य भावना से नही। अनुकम्पा मात्र को वे निरवद्य मानते हैं, तब उन्हे आपत्ति क्यो हो ? किन्तु भगवान् महावीर की अहिंसा-प्रधान विचारधारा को मान्य करने वाले इसे निर्दोष नही मानते। उनके मतानुसार दु खी को मार डालने मे करुणा की पूर्ति होगी किन्तु अहिंसा नही हो सकती। हमे दूसरो के जीवन-हरण का अधिकार नही है। अनुकम्पा और उसके

---

१ अहिंसा, प्रथम भाग, पृ० ३५,३६

२ प्रश्नव्याकरण १, आ० धम्महेउ तसे पाणे थावरे य हिंसति मन्दबुद्धी।

३ पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ७९ सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥

४ योगशास्त्र २।४०

५ नवजीवन पुस्तक १५, पृ० १३८२, ता० २५।६।२१

साधन—ये दोनों अहिंसात्मक हो, तब ही आत्म-शुद्धि के साधन बन सकते हैं, अन्यथा नही। कष्ट-दशा मे भी जो शान्त रहता है, वह अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाता है, इसलिए कष्ट-दशा से डरने की कोई बात नही है। उसका सामना करने का उचित मार्ग सीख लेना चाहिए और दूसरो को भी सिखा देना चाहिए। पशुओ को यह नहीं सिखाया जा सकता, यह सच है किन्तु हिंसा और अहिंसा के साधन समझने वालो और नही समझने वालो के लिए अलग-अलग नही होते।

५ थोडे से हिंसक जीवो को मार डालने से बहुत सारे जीवो की रक्षा होती है—ऐसा मानकर उन्हें नही मार डालना चाहिए।[1] अहिंसा के राज्य मे किसी के लिए किसी को, किसी भी दशा मे मारने की बात आती ही नही। जो सहज करने की भूमिका मे न हो उन्हे मारना पडे, यह दूसरी बात है किन्तु इस मनुष्य-स्वभाव की दुर्बलता को धर्म का रूप तो नही मिलना चाहिए। इस विषय मे महात्मा गाधी से सम्बन्धित निम्नाकित प्रसग मननीय है

'एक बार महात्मा गाधी से प्रश्न किया गया कि कोई मनुष्य या मनुष्यो का समुदाय लोगो के बडे भाग को कष्ट पहुचा रहा है। दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो, तब उसका नाश करे तो यह अनिवार्य समझकर अहिंसा मे खपेगा या नही ?'

महात्मा जी ने उत्तर दिया—'अहिंसा की जो मैंने व्याख्या की है, उसमे ऊपर के तरीके पर मनुष्य-वध का समावेश ही नही हो सकता। किसान जो अ‌निवार्य नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नही है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नही है।'[2]

'धर्म का मूल दया है, दया का मूल अहिंसा है और अहिंसा का मूल जीवन-समता है, इसलिए जो सभी जीवो को अपने समान प्रिय समझता है, श्रेय समझता है, वही धर्मात्मा है।'[3]

आक्रान्ता को मारने की बात भी अहिंसा मे नहीं समाती। समाजशास्त्र ने हिंसात्मक दण्ड-विधि को अपनाना आवश्यक माना है। आक्रान्ता के प्रति आक्रमण करने का विधान किया है। धर्मशास्त्र मे इसके लिए कोई स्थान नही। उसका दण्ड-विधान अहिंसात्मक है, इसलिए समाज के सब विधि-विधानों का धर्म से अन-

---

१ पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय ८३

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं, न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥

२ अहिंसा, पृ० ५०

३. पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय

मोदन नही हो सकता। गुरुदास बनर्जी ने इस बात को बड़े मार्मिक शब्दो मे समझाया है .

'जान से मार डालने के लिए उद्यत आततायी को आत्म-रक्षा के लिए मार डालना प्राय सभी देशो की सब समय की दण्ड-विधि द्वारा अनुमोदित है। मनु भगवान् ने भी कहा है—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन'—आततायी को मार डालने मे मारने वाले को कुछ भी दोष नही होता।

भारत की वर्तमान दण्ड-नीति भी यही बात कहती है। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड-विधि का मूल उद्देश्य समाज की रक्षा करना है, नीति-शिक्षा देना नही है। अतएव दण्ड-विधि की बात सब जगह सुनीति के द्वारा नही भी अनुमोदित हो सकती है।'[1]

६ बहुत जीवो को मारने वाले ये जीव जीते रहे तो बहुत पाप करेंगे—ऐसी अनुकम्पा करके भी हिंसक जीवो को नही मारना चाहिए।[2]

पाप से बचाने की भावना निरवद्य है। इसके साधन भी निरवद्य होने चाहिए। मारने से पापी मिट सकता है, पाप नही मिटता। पाप मिटने का उपाय पापी के हृदय की शुद्धि है।

७ सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है। मारे हुए सुखी जीव आगे सुखी होगे - इस भावना से सुखी जीवो को नही मारना चाहिए।[3]

कोई भी जीव दूसरे के प्रयत्न से अगले जीवन मे सुखी या दु खी नहीं बनता, वह अपने प्रयत्न से ही वैसा बनता है। इसलिए दूसरे जीव को सुखी बनाने के लिए मारना नितान्त मानसिक भ्रम है।

८ हिंसा की आग बलवान् और निर्बल दोनो के हृदय मे हो सकती है। बलवान् से निर्बल को बचाने का अर्थ शक्ति के दुरुपयोग का प्रतिकार हो सकता है, हिंसा का प्रतिकार नही। हिंसा का प्रतिकार बलवान् और निर्बल दोनो की हिंसा-भावना छूटे, उसमे रहा हुआ है।

इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा है—'ललचाकर या डरा-धमकाकर किसी को अहिंसक नही बनाया जा सकता। इसका मार्ग समझाना-बुझाना ही है। जबरदस्ती से हिंसक की हिंसा नही छुड़वाई जा सकती।'

---

१ ज्ञान और कर्म, पृ० २१२

२ पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ८४

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥

३. वही, ८६ कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥

महात्मा गांधी ने भी अहिंसा के मार्ग मे बल-प्रयोग को निषिद्ध माना है। तब क्या गाय को बचाने के लिए मुसलमानो से लड़ूगा और उनकी हत्या करूंगा? ऐसा करके तो मैं मुसलमान और गाय दोनो का ही दुश्मन बनूगा।

मेरा कोई भाई गोहत्या पर उतारू हो जाए, तब मुझे क्या करना चाहिए? मैं उसे मार डालू या उसके पैर पकड़कर उससे ऐसा न करने की प्रार्थना करूं? अगर आप कहे कि मुझे पिछला तरीका अख्तियार करना चाहिए तो फिर तो अपने मुसलमान भाई के साथ भी मुझे इसी तरह पेश आना चाहिए।'[1]

यह तो कही नही लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले। उसका रास्ता तो सीधा है—एक को बचाने के लिए वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने मे है।[2]

एक ही कार्य मे अल्प-हिंसा और बहु-अहिंसा का सिद्धान्त जनतन्त्र की भावना देता है, किन्तु विशुद्ध अहिंसा की भावना नही देता। अहिंसा के राज्य मे थोडो के लिए बहुतो की हिंसा जैसे सदोष है, वैसे ही बहुतो के लिए थोडो की हिंसा भी सदोष है। उसमे निर्दोष है—हिंसा से बचना तथा जीवन की अशक्यता, सामाजिक दायित्व और सम्बन्धो को निभाने के लिए हिंसा करनी पडे, उसे अहिंसा न समझना। हिंसा दैहिक जीवन की प्रवृत्ति है। उसके नियमन से अहिंसा प्रकट होती है। देह-मोह छूटे बिना हिंसा न छूटे, यह दूसरी बात है किन्तु उसे अहिंसा मान बैठना दोहरी भूल है। इसके फलस्वरूप हिंसा को छोडने की वृत्ति पैदा नही होती। अहिंसा की आराधना पूरी न हो सके, फिर भी उसके स्वरूप-ग्रहण की धारा पूरी होनी चाहिए। गृहस्थ अपने को अहिंसक मानते है, इसका अर्थ यह नही है कि वे पूरी हिंसा को त्याग चुके हैं। उनकी गति अहिंसा की दिशा मे होती है, वे हिंसा से यथासम्भव दूर हटना चाहते हैं, इसलिए वे अहिंसक है।

इस प्रसग पर महात्मा गाधी के विचार देखिए—'आज हम ऐसी बहुत-सी बातें करते हैं, जिन्हें हम हिंसा नही मानते हैं, लेकिन शायद उन्हे हमारे बाद की पीढ़िया हिंसा के रूप मे समझे। जैसे हम दूध पीते है या अनाज पकाकर खाते हैं, उसमे जीव-हिंसा तो है ही। यह बिलकुल सभव है कि आने वाली पीढ़ी इस हिंसा को त्याज्य समझकर दूध पीना और अनाज पकाना बन्द कर दे। आज यह हिंसा करते हुए भी हमे यह दावा करने मे सकोच नही होता कि हम अहिंसा-धर्म का पालन करते हैं।'[3]

---

१ हिन्द स्वराज्य, पृ० ७८

२ वही, पृ० ५९

३ महादेवभाई की डायरी, पृ० २६

जीवन के व्यवहार सात्विक होते हैं, अल्प-हिंसा और अल्प-परिग्रह वाले होते हैं, तब महा-हिंसा और महा-परिग्रह की तुलना मे व्यवहार-दृष्टि के अनुसार उन्हे अहिंसक मान लिया जाता है। यह अल्प-हिंसा मे अहिंसा का आरोपण है, शुद्ध अहिंसा नहीं है। महात्मा गाधी के अनुसार यह मन फुसलाने जैसा है। वे लिखते हैं

"जैसा कि निरामिष आहारी वनस्पति खाने मे हिंसा है—यह जानता हुआ भी निर्दोषता का आरोपण कर मन को फुसलाता है।"[1]

अहिंसा के व्यापक रूप मे गृहस्थ के हिंसामय कर्तव्यो की सीमा होती है, अनावश्यक और प्रमाद-विहित कार्य छूटते हैं। मुनि का मार्ग और भी सकडा बन जाता है। वे स्वय कोई भी हिंसामय कार्य नही कर सकते, इससे आगे—हिंसामय कार्य का पथ-दर्शन भी नही कर सकते। महात्मा गाधी राजनीतिक दायित्व से मुक्त नही थे, फिर भी उनकी दृष्टि मे हिंसा का समर्थन न करने और यथासम्भव हिंसा से बचने की वृत्ति सुरक्षित है।

'हिंसा के मार्ग मे किसी का भी नेतृत्व करने मे मै असमर्थ हू। यह तो हरएक क्षण मे किसान अनुभव करता है कि खेती के लिए छोटे-छोटे जीवो का नाश करना अनिवार्य है। इसके आगे आकर इस वस्तु को ले जाना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। हिसा करने से जिस अश तक बचना सभव हो, उस अश तक बचना सबका धर्म है।'[2]

'जीवो जीवस्य जीवनम्'—जीव जीव का जीवन है, अथवा 'पाणी पाणा किलेसति'— प्राणी प्राणी को मारता है अथवा 'मच्छगलागल'—एक बडी मछली छोटी मछलियो को खा जाती है, वैसे बडे जीव छोटे जीवो का भख लेते है—ये तथ्योक्तिया है। मनुष्य को खाना पडता है, पीना पडता है। इसमे शाक, सब्जी, धान, पानी, अग्नि, हवा के जीवो का वध होता है। इनके योग से द्वीन्द्रिय आदि बडे जीवो की भी हिंसा होती है। यह उनकी आवश्यकता है, मजबूरी है, ऐसा किए बिना जीवन-निर्वाह नही हो सकता। किन्तु मनुष्य मे एक कमजोरी छिपी हुई होती है। वह हर जगह सचाई की ओर बढने मे रुकावट डालती है। इसीलिए एक सिद्धान्त बना लिया गया कि जो वस्तुए मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक हैं, उनमे हिसा कैसी ? यह सिद्धान्त व्यापक बन गया किन्तु वस्तु-स्थिति कुछ और है। दुनिया स्वार्थी है। ऐसा किए बिना उससे रहा नही जाता, यह दूसरी बात है पर सचाई और कमजोरी एक नहीं, दो चीजें हैं।

१ व्यापक धर्म-भावना, पृ० ३०८

२ अहिंसा, पृ० ५७

अहिंसा और दया की एकात्मकता

अहिंसा और दया दोनो एक हैं। शब्द की उत्पत्ति की दृष्टि से दोनों मे भेद जान पडता है। अर्थ की दृष्टि पाप से बचने या बचाने की जो वृत्ति है, वही अहिंसा है और वही दया है। यह दया के आध्यात्मिक स्तर की बात है। उसका लौकिक स्तर अहिंसा से अलग होता है। उसकी दृष्टि मे सुख-सुविधा और जीवन के स्थायित्व का मूल्य होता है। अहिंसा-दृष्टि का उद्देश्य होता है—सयम-विकास। लौकिक करुणा की वृत्ति होती है—जीव न मरे यानी मरने वाला मौत से बच जाय। अहिंसा की दृष्टि है—मरने वाला पाप से बचे—उसकी हिंसा छूटे। मारने वाला हिंसा के पाप से बच जाए, ऐसी करुणा या दया होती है, वह अहिंसा ही है। मरने वाला मौत से बच जाए—ऐसी दया या करुणा का अहिंसा से सम्बन्ध नही होता।

अहिंसा के स्थान मे दया का प्रयोग होता है, वह हिंसा से बचने-बचाने के अर्थ मे ही होता है। उत्तराध्ययन मे लिखा है[1]—प्राणी-दया के लिए मुनि आहार न ले—तात्पर्य कि सूक्ष्म जीव जमीन पर छा जाए, ऐसी स्थिति मे मुनि उन जीवो की रक्षा के लिए यानी हिंसा से बचने के लिए भिक्षा के लिए न जाए। सूत्रकृताग मे बताया है[2]—

'सब जीवो की दया के निमित्त मुनि अपने लिए बनाया हुआ भोजन न ले।' यहा दया का प्रयोग हिंसा से बचाव करने के अर्थ मे हुआ है। इसलिए यह दया अहिंसा ही है।

जो हिंसा नही करता, वह सभी जीवो की दया करता है। 'प्रासुक और निर्दोष आहार को सेवन करता हुआ मुनि धर्म का अतिक्रमण नही करता—धर्म का अतिक्रमण नही करता हुआ त्रस तथा स्थावर जीवो की अनुकम्पा करता है।[3]

आत्म-दया और लौकिक दया

'दान-दया दोनू मारग मोख रा'—दान और दया दोनो मोक्ष के मार्ग है। किन्तु इन्हे समझना होगा। बिना समझे मार्ग कैसे मिलेगा। वे कहते है—

दया-दया सब कोइ कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नै पालसी, त्या रै मुक्ति नजीक॥'[4]

मोक्ष के लिए जो दया है, वह अभय-दान है[5]। जो प्राणी मात्र को मनसा,

---

१ उत्तराध्ययन २६।३५
२ सूत्रकृताग वृत्ति २।६।४०
३ भगवती १।६
४ अनुकम्पा चौपई ८।१
५ वही, ६।२, दोहा

वाचा, कर्मणा स्वय नही मारता है, नही मरवाता है और मारने वाले को भला नही समझता—यह अभयदान है।[१] मोक्ष के लिए जो दया है, वह सयम है—हिंसा-त्याग है।[२] मनसा, वाचा, कर्मणा जीव मात्र की हिंसा न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना—तीर्थंकारो की वाणी मे आत्म-दया का यही स्वरूप है।[३] इसी से ससार-समुद्र का पार आता है।[४]

एक लौकिक दया भी है। उसके अनेक रूप है।[५] वह ससार का उपकार है। उसे मुक्ति का मार्ग कहना एक प्रकार का व्यामोह है।[६]

अहिंसा महाव्रत है, दया उसमे समाई हुई है।[७] अहिंसा से अलग दया नही है। असयम हिंसा है। हिंसा है, वह दया नही है। इसीलिए असयम से सम्बन्ध रखने वाला जीवन, मृत्यु, पोषण, तृप्ति, पूर्ति, सहयोग आदि-आदि सब आत्म-दया नही है और इसलिए नही है कि इनमे हिंसा का स्थूल या सूक्ष्म सम्बन्ध रहता है, राग, द्वेष और मोह की पुट रहती है।[८]

सयममय जीवन, मृत्यु, पोषण, सहयोग आदि-आदि सब आत्म-दया है। इससे आत्म-शुद्धि होती है। मोह नही बढता। आचार्य भिक्षु ने मोक्ष-दया, मोक्ष-दान, मोक्ष-उपकार तथा ससार-दया, ससार-दान और ससार-उपकार को परखने की एक ऐसी कसौटी रखी है, जिसमे खोट नही चलती। जैसे—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मोक्ष के मार्ग है—आत्म-गुण है।[९] इनकी साक्षात् वृद्धि करने वाले दया, दान और उपकार मोक्ष के साधक है और जिनसे ये न बढे, वैसे दया, दान और उपकार ससार के साधक है।[१०]

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के बिना और कोई मुक्ति का उपाय नही है।[११] इनके सिवा बाकी के जितने उपकार हैं वे सब ससार के मार्ग है।[१२]

अज्ञानी को कोई ज्ञानी बनाए, मिथ्या-दृष्टि को सम्यग्-दृष्टि, असयमी को सयमी और अतपस्वी को तपस्वी—यह मोक्ष-धर्म या मोक्ष-उपकार है।

उमास्वाति के मोक्ष-शास्त्र का पहला सूत्र है 'सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग'—यही तत्त्व बता रहा है और यही तत्त्व उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् महावीर ने बताया है—

---

१ अनुकम्पा चौपाई ६।१, दोहा
२ वही, ६।४, दोहा
३ वही, ६।३ दोहा
४ वही, ८।४, दोहा
५ वही, ८।५
६ वही, ८।५
७ वही, २।८, दोहा
८ वही, ६।३७-३६
९ वही, ६।६५, दोहा
१० अनुकम्पा ढाल ११
११ अनुकम्पा, ।१७-२२ दोहा
१२ वही, १२।८

नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो जिणेहि वरदसिहि ॥
—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मार्ग है।

क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद वर्णी ने इस पर बडा मार्मिक प्रकाश डाला है। वे अमृतचन्द्र सूरि के एक श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

'अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥

—पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय।

निश्चय ही जहा पर रागादिक परिणामो की उत्पत्ति नही होती, वही अहिंसा की उत्पत्ति है और जहा रागादिक परिणामो की उत्पत्ति होती है, वही पर हिंसा होती है, ऐसा जिनागम का सक्षेप मे कथन जानना।

यहा पर रागादिको से तात्पर्य आत्मा की परिणति-विशेष से है। पर पदार्थ मे प्रीति-रूप परिणाम का होना राग तथा अप्रीति-रूप परिणाम का होना द्वेष और तत्त्व के अप्रीति रूप परिणाम का होना मोह अर्थात् राग, द्वेष, मोह—ये तीनो आत्मा के विकार भाव हैं। ये जहा पर होते है, वहा आत्मा कलि (पाप) का सचय करता है, दु खी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्यों मे प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द-राग हुआ, तब परोपकारादि कार्यों मे व्यग्र रहता है, तीव्र राग-द्वेष हुआ, तब विषयो मे प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापो मे मग्न हो जाता है। कही भी इसे शान्ति नही मिलती। जहा आत्मा मे राग-द्वेष नही होते, वही अहिंसा का पूर्ण उदय हो जाता है। अहिसा ही मोक्ष मार्ग है—परमार्थ से देखा जाए तो जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाती है, उसके अभिप्राय मे न तो पर के उपकार के भाव रहते है और न अनुपकार के भाव रहते है अत न उनके द्वारा किसी के हित की चेष्टा होती है और न अहित की चेष्टा होती है।'[1]

---

१ अनेकान्त, वर्ष ६, किरण ६, जून, १६४८

३

प्रेय और श्रेय का विवेक

अधिकाशतया विरोध शब्दो मे रहता है, तत्त्व मे नहीं। मोह को, मोह-अन्वित दया को प्राय सभी आस्तिक दर्शन बन्धन मानते हैं। साख्य सूत्र मे असाधन के अनुचिन्तन को बन्धन माना गया है।[1]

यज्ञ याग आदि श्रौत कार्यों को भी बन्धन माना है। जैसे—कर्म करने से जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्कर मे पडता रहता है। बुद्धिहीन आदमी ही इन कर्मों की प्रशसा करते हैं। इससे उन्हे बार-बार शरीर धारण करना पडता है।[2]

इसका विस्तृत रूप है—महाभारत शान्तिपर्व मे शुकदेव ने कर्म और ज्ञान का स्वरूप पूछते हुए व्यासजी से प्रश्न किया है— 'पिताजी! वेद मे ज्ञानवान् के लिए कर्मों का त्याग और कर्मनिष्ठ के लिए कर्मों का करना, ये दो विधान हैं। किन्तु कर्म और ज्ञान—ये दोनो एक-दूसरे के प्रतिकूल है अतएव मैं जानना चाहता हू कि कर्म करने से मनुष्य को क्या फल मिलता है और ज्ञान के प्रभाव से कौन-सी गति मिलती है?'—व्यासजी ने उक्त प्रश्न का जवाब देते हुए कहा—'वेद मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दो प्रकार के कर्म बतलाए गए है। कर्म के प्रभाव से जीव ससार के बन्धन मे बधा रहता है। इसीलिए पारदर्शी सन्यासी लोग कर्म नही करते। कर्म करने से जीव फिर जन्म लेता है, किन्तु ज्ञान के प्रभाव से जीव नित्य अव्यक्त, अव्यय परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। मूढ लोग कर्म की प्रशसा करते है, इसी से उन्हे बार-बार शरीर धारण करना पडता है। जो मनुष्य सर्वश्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जो कर्म को भली-भाति समझ लेता है, वह जैसे नदी के किनारे वाला मनुष्य कुओ का आदर नही करता, वैसे ही कर्म की प्रशसा नही करता।'

---

१. साख्य सूत्र असाधनानुचिन्तन बन्धाय भरतवत्।
२. मुण्डक उपनिषद् १।२।७, महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २४१।१।१०

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् मे कहा गया है वैदिक मन्त्रो में जिन याज्ञिक कर्मों का विधान है, वे नि सन्देह त्रेता युग मे ही बहुधा फलदायक होते हैं। उन्हे करने से पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। इससे मोक्ष की सिद्धि नही होती। क्योकि ये यज्ञ-रूपी नौकाए, जिनमे अठारह प्रकार के कर्म जुडे हुए हैं, ससार-सागर से पार करने के लिए असमर्थ है। जो नासमझ लोग इन याज्ञिक कर्मों को कल्याण-कारी समझकर इनकी प्रशसा करते है, उन्हे पुन -पुन जरा और मृत्यु के चक्कर मे पड़ना पडता है।

बन्धन और बन्धन-मुक्ति का विवेक

लोग कहने लगे–'भीखणजी दया मे पाप बतलाते है। दान मे पाप बतलाते है।' दूर-दूर के लोग शब्द-जाल मे फस जाते हैं, पाप शब्द को सुन चौक उठते है।

पाप आखिर वस्तु क्या है, इसे समझिए तो सही। अन्य दर्शन जिसे बन्धन कहते है, वह जैन-दर्शन की भाषा मे पाप कहलाता है। साधारणतया पाप शब्द का अर्थ समझा जाता है—दुष्ट, निन्दनीय, दुराचार, बुरा और जैन-दर्शन मे उसका अर्थ होता है–अशुभ-कर्म-बन्धन। तत्त्व-मीमासा मे हम दूसरे दर्शनो से अधिक दूर नही है। सिर्फ शब्द की परिभाषा हमे बहुत दूर किए हुए है। दूसरे बहुत सारे आचार्य मोह दया और असयमी-दान को शुभ बन्ध का हेतु मानते है और हम अशुभ बन्ध का। इसे आत्म-शुद्धि का कारण या साधना का मार्ग न दूसरे धर्म मानते हैं और न हम भी। शुभ कर्म बन्ध भी बन्धन है, अशुभ कर्म बन्ध भी बन्धन। एक सोने की बेडी है, दूसरी लोहे की।

उपाध्याय विनयविजयजी के शब्दो मे–'शुभ कर्म सोने की जजीर है, जो मोक्ष-सुख या आत्म-स्वातत्र्य को रोके हुए है।'[1]

आचार्य कुदकुद के शब्दो मे–'सोने की और लोहे की दोनो प्रकार की बेडिया जैसे मनुष्य के लिए बन्धन है, वैसे ही शुभ और अशुभ कर्म—पुण्य-पाप मनुष्य को बाधने वाले है।'[2]

आचार्य भिक्षु के शब्दो मे —'पुण्य ससार की दृष्टि से श्रीकार है, मोक्ष-सुख की तुलना मे वह सुख है ही नही। पुण्य जन्म सुख पौद्गलिक हैं, क्षणभगुर हैं, खुजली जैसे मीठे है। आत्मिक सुख या मोक्ष-सुख शाश्वत, अविकारी, स्वाभाविक और अपार है।'[3]

---

१ शान्ति सुधारस, ७

२ समयसार १४६

३ नवसद्भाव पदार्थ निर्णय ३।४६-५०

भगवान् महावीर ने बताया है—प्रमाद-बहुल जीव शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा ससरण करता है—जन्म-मृत्यु की परम्परा मे बहता है।[१] मोक्ष तब होता है, जब शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के बन्धन टूट जाते हैं।[२]

गीता कहती है—बुद्धिमान् सुकृत और दुष्कृत दोनो छोड देता है, यानी मुक्ति दोनों के छूटने से होती है।[३]

'पुण्य की इच्छा करना पाप है।'[४]—आचार्य भिक्षु की यह वाणी बहुत गम्भीर अर्थ लिए हुए है। अध्यात्मवाद का चरम साध्य है—मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है पुण्य-पाप से आत्यन्तिक मुक्ति। मोक्षार्थी जिससे मुक्ति चाहता है, उसी मे फसे यह गलत दिशा है।

पुण्य का फल सुख होता है, पाप का फल दु ख, इसलिए पुण्य और पाप के बन्ध मे बहुत बडा अन्तर होना चाहिए—ऐसा विचार आ सकता है। किन्तु यह व्यवहार्य दृष्टि है। परमार्थ-दृष्टि मे बात दूसरी होती है। जिनभद्र गणी के मतानुसार—'पुण्य फल तत्वत दु ख है।'[५]

आचार्य भिक्षु ने कहा

शेष रह्या काम ससार ना, तिण कीधा बधसी कर्म।
बाछै मरणो जीवणो, ते धर्म तणो नही अश॥
ए अनुकम्पा किया थका, वधे कर्म नो वश।[६]
अणुकम्पा इहलोक री, कर्म तणो बध होय।
ज्ञान, दर्शन, चारित्र बिना, धर्म म जाणो कोय॥[७]

जिनभद्र गणी कहते है—'परमार्थ दृष्टि मे पुण्य-फल अशुभ-कर्म का जनक होने के कारण दु ख ही है।' यहा पहुचने पर ऐसा लगता है कि दोनो विचारो का निष्कर्ष एक रेखा पर है। इसलिए शब्द की खीचातानी मे हमे रस नही लेना चाहिए। हम जो तत्त्व देना चाहते हैं, उसे जिस शब्द से लोग सहजतया पकड सके, उसी शब्द को प्रयोग मे लाना चाहिए।

मोह-दया आत्म-साधना से दूर ले जाती है—इस तत्त्व को पाप शब्द के द्वारा

---

१ उत्तराध्ययन १०।१५
२ वही २१।२४
३ गीता २।५० बुद्धियुक्तो जहातीह, उभे सुकृतदुष्कृते।
४ नव सद्भाव ३
५ विशेषावश्यक भाष्य २००४-२००५
६ अनुकम्पा चौपई, ३।१, दोहा
७ वही, २।१, दोहा

लोग समझें तो पाप कहना चाहिए। लोक-धर्म, लौकिक पुण्य और सामाजिक कर्तव्य के द्वारा समझे तो इन्हे व्यवहृत करना चाहिए। हमें तत्त्व देने से मतलब है। लोगो को भडकाए, यह हमारा उद्देश्य नही है। समय के साथ-साथ शब्द-प्रयोग बदलता रहता है। आचार्यश्री तुलसी ने मोह-दया आदि सामाजिक प्रवृत्तियों के लिए लौकिक पुण्य, लोक-धर्म आदि शब्दो का प्रयोग कर तत्त्व-मीमासा का मार्ग सरल कर डाला। लोग कहते हैं—आचार्यश्री ने दया-दान मे परिवर्तन कर डाला। यह सही भी है और नही भी। कुनैन जैसी कडवी दवा और विष भी आवश्यकतानुसार दिए जाते थे, अब भी दिए जाते है। अन्तर इतना आया है कि पहले सीधा दिया जाता था और आजकल चीनी-लिप्त दिया जाता है। इसे हम कह सकते है कि परिवर्तन हुआ है और नही भी हुआ। यही बात आचार्यश्री की तत्त्व-निरूपण पद्धति के लिए समझिए। तत्त्व मूल का है। उसे लोग जिस रूप मे सुलभतया ले सकें, भाषा वैसी है।

उठो और उठाओ—जागो और जगाओ

आचार्य भिक्षु ने भगवान् महावीर की वाणी का सार समझाते हुए कहा—
व्रत धर्म है, अव्रत अधर्म।
त्याग धर्म है, भोग अधर्म।
सयम-जीवन धर्म है, असयम-जीवन अधर्म।
पडित-मृत्यु धर्म है, बाल-मृत्यु अधर्म।
वीतराग-भाव धर्म है, राग अधर्म।
अद्वेष-भाव धर्म है, द्वेष अधर्म।

उन्होने बताया—'जीना और मरना आत्मा की अमरता के दो पहलू हैं। जीना-मरना धर्म नही है, धर्म त्याग है। असयमी जीवन और असयमी मृत्यु की इच्छा करना अधर्म है। सयमी जीवन का सयमानुकूल पोषण करना धर्म है। असंयमी जीवन का पोषण करना धर्म नही है।'[1]

'जो जीव अव्रती है, छह काय की हिसा करने का जिसे सर्वथा त्याग नही है, उसका जीवन असयमी है। जिसने सर्व सावद्य—सर्व हिंसा का त्याग कर दिया उसका जीवन सयमी है।'[2]

आचार्य भिक्षु की सूत्र-वाणी के आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने कहा—उठो और उठाओ—जागो और जगाओ। आचार्यवर के शब्दो मे 'जीओ और जीने

---

१ अनुकम्पा चौपई ७।६०
२ वही ८।१७, ११।४८, १२।७, ४२,६२, ६।३८

दो'—यह सिद्धान्त पारमार्थिक नही है। इसमे सिर्फ अधिकार की ध्वनि है। जीना परमार्थ नही। परमार्थ है जीवन को सयममय बनाना। जीने दो यानी मत मारो। मारने का तुम्हे अधिकार नही है। किन्तु, परमार्थ इससे आगे बढ़ता है। वह यह है—मत मारो, वह तुम्हारा गुण है, तुम्हारी अहिंसा या दया है, तुम्हारा कल्याण है। इससे उनका क्या बना ? उन्हें सयम का तत्त्व समझाकर सयमी बनाओ। इसमे तुम्हारा और उनका दोनो का कल्याण है। इसलिए यही परम पुरुषार्थ है।

जैन परम्परा के आरोह-अवरोह

समय-चक्र के परिवर्तन के साथ धर्म-शासन मे भी उतार-चढाव आते है। धर्म का मौलिक रूप ह्रास से परे होता है, किन्तु उसके प्रकार की या अनुयायी वर्ग की सीमा का ह्रास या विकास होता रहता है। गहराई या मौलिकता की दृष्टि से धर्म का महत्त्व आकने वाले बिरले होते है। जन-साधारण अनुयायी वर्ग की सख्या के अनुसार धर्म को बडा या छोटा मानते है। बाहरी मर्यादा मे ऐसा होता भी है। अल्पसख्यको को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए बहुमत के सामने झुकना पडता है।

विक्रम की सहस्राब्दी तक जैन-धर्म जनता का धर्म रहा। इसके बाद कुमारिल, आचार्य शकर आदि-आदि वैदिक विद्वानो के इतने तीव्र प्रहार हुए कि वह सिमटता-सिमटता नाम मात्र का रह गया। बौद्ध-धर्म के उत्कर्ष काल मे जैन-धर्म मे कुछ शिथिलता आयी। अहिंसा की सीमा मे करुणा को घुसने का कुछ मौका मिला। फिर भी उस समय जैन प्रभुत्व भी शक्तिशाली था, इसलिए वह उससे अधिक प्रभावित नही हुआ।

वैदिक विद्वानो का प्रहार श्रमण-परम्परा की मुख्य दो शाखाओ—जैन और बौद्ध पर था। साख्य, जो श्रमण-परम्परा का ही एक अग था, वह अर्द्धवैदिक बन गया। बौद्ध भारत से बाहर चले गए। जैन-धर्म का अपनी विशेषताओ के कारण अस्तित्व मिटा नही किन्तु इसके बाद धीरे-धीरे उसमे विकार घुसते गए। जर्मन विद्वान् प्रो० हेमल्ट ग्लाजनेप ने 'जैनिज्म' नामक पुस्तक मे इस विषय पर बडा सुन्दर प्रकाश डाला है। वे लिखते है—'वैदिक यज्ञकाण्ड के पुनरुद्धारक कुमारिल ने और मायावाद, ब्रह्मवाद के स्थापक महान् शकर ने वेद-धर्म-विरोधी जैन-धर्म के विरुद्ध अपने तमाम शास्त्रीय शस्त्रो के द्वारा युद्ध किया और यह युद्ध धीरे-धीरे ऐसा बलवान हुआ कि जैन-धर्म को नम्रीभूत हो जाना पडा। दक्षिण भारत मे वैष्णव और शैव सम्प्रदाय ने जैन धर्म पर भयकर प्रहार किया।'

'हिन्दू-धर्म की विशिष्ट कला के कारण जैन-धर्म के अनेक शिष्य उस धर्म मे

चले गए। इतना ही नही मगर अभी इसके जो शिष्य हैं, उनमे भी हिन्दू-धर्म के अनेक आचार-विचार प्रवेश कर गए हैं। इसी प्रकार से हिन्दू-धर्म के जिन देवी-देवताओ को जैनो मे किंचित् मात्र भी स्थान नहीं था, उनमे उन देवी-देवताओ का प्रवेश हो गया। वेदान्त के प्रभाव से अनेक पारिभाषिक शब्द भी जैन-साहित्य मे घुस गए हैं। भावनाओं और सामाजिक जीवन मे भी जैन लोग हिन्दू-भाव स्वीकार करते जा रहे हैं।'

भगवान् महावीर ने जातिवाद का घोर विरोध किया। आचाराग और सूत्र-कृताग मे जाति के मिथ्या अभिमान को चूर करने वाली उक्तिया भरी पडी हैं। फिर भी आज के बहुसख्यक जैन जातिवाद को अपनी बपौती की वस्तु माने बैठे हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर के आचार्य जातिवाद के खण्डन मे प्रकरण के प्रकरण लिख चले। उन्ही के अनुज जातिवादके पोषक बन गए और जैन-साहित्य मे स्पृश्य-अस्पृश्य की व्यवस्था भी घुस आयी।[1]

'श्रद्धा, तर्पण, गोमय-लेपन, शुद्धि का अतिरेक आदि के विचार जैन-परम्परा मे घुस आए और उनसे वह विकृत बन गई।'

जैन आगमो की टीकाए भी मूलस्पर्शी नही रही है जैसा कि प० बेचरदास ने लिखा है—'हू, सूत्रो नी टीकाओ सारी रीते जोइ गयो छू, परन्तु तेमा मने घणे ठेकाणे मूल नू मूसल करवा जेवु लाग्यु छे।'[2]

उत्तरवर्ती साहित्य मे तो बहुत ही विकार आया। जैन-परम्परा का मूल रूप ढूढ निकालना कठिन हो गया। परम्परा के विकारो के सकेत हमे पुरानी गाथाओ मे भी मिलते है। एक आचार्य ने लिखा है—[3]

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रै, बठरैश्च तपोधनै।
शासन जिनचन्द्रस्य, निर्मल मलिनीकृतम्॥

—'चरित्र-भ्रष्ट पडितो ने जैन-शासन को मलिन बना डाला।'

इसी प्रकार सघपट्टक की प्रस्तावना मे अभयदेव सूरि का मत दर्शाते हुए प्रस्तावन-लेखक ने लिखा है—"आवी रीते वीर प्रभु थी एक हजार वर्ष पर्यन्त सरखी परम्पराए तेवा साधुओनो सीधो कार भार चालू रह्यो—छता भगवान् थी आठ सौ पचास वर्षे थोडाक यतियोए वीर प्रभु ना शासन थी बे दरकार बनी उग्र विहार छोडी चैत्यवास नी शुरूआत करी हती। पण मुख्य भाग तो वसतिवासीज रह्यो हतो अने ते भाग मा अग्रेसर तरीके ओलखाता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणे भग-

१ महापुराण १६।१८६
२ जैन साहित्य मां विकार थवा थी थयेली हानि, पृ० १२३
३. ग्रन्थ परीक्षा १, भाग ३, ले० जुगलकिशोर मुख्तयार

वान् श्री ९८० मा वर्षे वल्लभीपुर मा सघ ने एकत्रित करी जैन सूत्रों ने पुस्तकारूढ कर्या छे। सद्‌गुरुदेवर्द्धिगणी भगवान् श्री १००० वर्ष स्वर्गवासी थया अने ते साथ खरू जिन-शासन गुम थई तेना स्थाने चैत्यवासिओए पोताना दोर अने जोर चला-ववा माड्यो। आ माटे नवागी वृत्तिकार, श्री अभयदेव सूरि 'आगम अठोतरी' नाम ना ग्रन्थ मां नीचे नी गाथा आपे छेके—

देवड्‌ढिखमासमणजा, परपर भावओ वियाणेमि।
सिढिलाचारे ठविया, दव्वेण परपरा बहुहा॥

—देवर्द्धि क्षमाश्रमण सुधी भाव-परम्परा हु जाणु छु, बाकी ते पछी तो शिथिलाचारिओए अनेक प्रकारे द्रव्य-परम्परा स्थापित करी छे।

आ रीते भगवान् थी ८५० वर्षे चैत्यवास स्थपायो तो पण तेनु खरेखरू जो वीर प्रभु थी हजार वर्ष बीत्या केडे बधवा माड्यु। आ अरसा मा चैत्यवास ने सिद्ध करवा माटे आगम ना प्रतिपक्ष तरीके निमगना नाम तले उपनिषदो ना ग्रन्थो गुप्त रीते रचवा मा आव्या अने तेओ दृष्टिवाद नाम ना बारमा अग ना त्रुटेला ककडा छे एम लोको ने समाजववमा आव्यु । ए ग्रन्थो मा एवु स्थापन करवा मा आव्यु छे के आज काल ना साधुओ ए चैत्य मा वास करवो वाजबी छे तेमज तेमणे पुस्तकादि ना जरूरी काम मा वपराशे माटे यथायोग्य पैसा टका पण सघरवा जोइये। इत्यादिक अनेक शिथिलाचार नी ते ओ ए हिमायत करवा माडी अने जे थोडा घणा वसतिवासी मुनिओ रह्या हता तेमनी अनेक रीते अवगणना करवा मांडी।"

इस विकार-काल मे प्रवर्तक-धर्म की पुण्यस्कन्ध वाली विचारधारा जैन-साहित्य मे प्रवाहित हुई—ऐसा अनुमान करना दुरूह नही है।

जैन-धर्म का आधार

जैन-धर्म केवल मोक्ष के साधन के रूप मे प्रतिष्ठित है। वह समाज का नियमन या व्यवस्था नही करता। जैन के प्रामाणिक आगम-सूत्रो मे समाज-व्यवस्था का कोई नियम नही मिलता। समाज की परिवर्तनशील धारणा या स्थिति मे अपरिवर्तनशील सत्य के नियामक धर्म को उलझना भी नही चाहिए। धर्म के शाश्वतिक रूप के साथ-साथ समाज की अशाश्वत धारणाए पलती है, इससे रूढि-वाद का जन्म होता है। देश-काल के अनुसार समाज की स्थितियो मे परिवर्तन वाछनीय माना जाता है किन्तु धर्म की तरह सामाजिक सस्कारो की जड जम जाए तब उन्हे उखाड फेंकना सहज नही रहता।

जैन धर्म आत्म-धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित बना और है, इसीलिए वह सामा-

जिक संगठन की मजबूत नींव नही डाल सका। इस्लाम-धर्म मे विश्वास करने वाला जैन जैसे मुसलमान जाति के रूप मे बदल जाता है, वैसे जैन-धर्म मे विश्वास रखने वाले को जैन जाति के रूप मे बदलना जरूरी नही होता। वैदिक धर्म में समाज-व्यवस्था का पूरा स्थान है। इसलिए सामाजिक प्राणी के लिए वह अधिक आकर्षक है। जैन-धर्म समाज की व्यवस्था से सम्बन्ध जोडकर चल भी नही सकता और न चलना चाहता भी है। क्योकि इससे उसका धार्मिक रूप नष्ट होकर वह केवल समाज-व्यवस्था का नियामक मात्र रह जाता है।

जैन-धर्म की आत्यन्तिक आध्यात्मिकता का कारण है—उसकी अहिंसा वृत्ति। वह धर्म के क्षेत्र मे अहिंसा को ही एकमात्र परम तत्त्व मानकर चलता है। करुणा का क्षेत्र सामाजिक है। निषेधक रूप मे करुणा धर्म से जुडी हुई है। जैसे—न मारना, न सताना, पशुओ पर अधिक भार न लादना, खान-पान मे अन्तराय न डालना आदि-आदि। विधायक रूप मे करुणा की कडी धर्म से जुडी हुई है भी और नही भी। आत्मा की पापमूलक प्रवृत्तियो को मिटाने के लिए जो रागहीन करुणा पैदा होती है, वह धर्म है। प्राणी की दु ख-दुविधाओ को मिटाने के लिए जो राग-मय करुणा पैदा होती है, वह धर्म नही, समाज का उपयोगी, धारक या पोषक तत्त्व है।

हिंसक या क्रूर समाज की अपेक्षा अहिंसक या कोमल भावना वाले समाज मे करुणा का विकास अधिक होना है और ऐसा हुआ भी है। करुणा के इस सतत प्रवाही विकास ने जैन-धर्म की मौलिकता मे विकार ला दिया। कालक्रम के अनुसार यह पुण्य और धर्म माना जाने लगा।

जैन-विचार सयम पर विकसित हुए है। उनमे व्यक्ति, जाति या स्थिति की विशेषता नही है। जन्मना जाति के समर्थको ने आर्द्रकुमार से कहा—'दो हजार स्नातको को जिमाने वाला महान् पुण्य-स्कन्ध का उपचय कर स्वर्ग जाता है—यह वेदवाक्य है।' यह सुनकर आर्द्रकुमार बोले—'असयमी ब्राह्मणो को जिमाने वाला नरक मे जाता है।'[1]

इसका यह अर्थ नही कि असयमी को जिमाने वाला नरक मे ही जाता है। इस तत्त्व को कटु-सत्य के रूप मे रखा गया है। तत्त्व इतना ही है कि यह मोक्ष-धर्म या पुण्य का मार्ग नही है।

विचार-परिवर्तन

एक ओर जैन आगम उक्त विचारधारा देते हैं। दूसरी ओर उत्तरवर्ती जैन-

---

१ सूत्रकृतांग २।६।४३

ग्रन्थ इसके विरुद्ध उसका समर्थन करते हैं, जिसका भगवान् महावीर ने प्रचुर-विरोध किया। पुण्य-स्कन्ध का जो विचार ब्राह्मण-परम्परा का अग रहा, वही जैन-परम्परा मे ऐसे आ घुसा कि आज मौलिक विचार तक पहुचना कठिन हो रहा है। जैन-धर्म के उत्कर्ष मे जैसे अहिंसा, तपस्या और अकिंचनता के विचारो ने जैनेतर धर्मों को प्रभावित किया, जिसे लोकमान्य तिलक जैसे विद्वानो ने भी स्वीकार किया है, वैसे ही वैदिक धर्म के उत्कर्ष मे वैदिक विचारो ने जैन-धर्म पर प्रभाव डाला। उदाहरण के रूप मे जातिवाद को लीजिए। भगवान् महावीर जन्मना जाति के विरुद्ध होने वाली क्रान्ति के मुख्य उन्नायक थे। सूत्रकृताग, जो भगवान् महावीर के दार्शनिक दृष्टिबिन्दु का प्रतिनिधि सूत्र है, मे जातिवाद पर मार्मिक प्रहार किया गया।[1]

वीर-निर्वाण की अनेक शताब्दियो तक जैन-परम्परा जातिवाद से मुक्त रही, इसके खण्डन मे बडे-बडे ग्रन्थो के पृष्ठ लिखे पडे है। आगे चलकर स्थिति बदल गई। जैन-धर्म के अपकर्ष-काल मे जातिवाद उस पर छा गया। आज जैनो के लिए यह समझना कठिन हो रहा है कि उनके महान् तीर्थंकर भगवान् महावीर जातिवाद के विरोधी थे। वही दशा पुण्य-स्कन्ध के विचार की है। सूत्रकृताग जिसे पुण्य मानने का निषेध करता है, उसे आज बहुत से जैन पोषण दे रहे है। पडोसी धर्मो का एक-दूसरे पर असर होता है और अपने-अपने प्रभाव-काल मे वे दूसरो पर अधिक असर डालते है—यह अस्वाभाविक नही।

समन्वय की मनोवृत्ति के कारण कुछ जैनाचार्यों ने शाब्दिक समन्वय साधा तो कुछ ने व्यावहारिक रूप भी बदल डाला। जैनाचार्यों ने श्राद्ध को तत्त्वत स्वीकार नही किया। शाब्दिक रूप मे उसे जैन-साहित्य मे स्थान मिला। अमितगति-श्रावकाचार मे श्राद्ध की व्याख्या मिलती है।[2] इसी प्रकार तर्पण का भी समन्वय किया गया। यह हमे नीतिवाक्यामृत[3] और यशस्तिलकचपू[4] मे मिलता है। यह शाब्दिक समन्वय है। इनमे तत्त्व नही बदला।

तत्त्व-विकार के कुछ नमूने देखिए—जो जैन-धर्म अपरिग्रह की मर्यादा को मुख्य मानकर चलता है, उसका एक अनुयायी भी यह विचार रखे कि सोने, चादी, मूगे और मोती की माला से जप करने से हजार उपवास जितना फल होता है।[5]

१ सूत्रकृतांग १।१३।।७,८ १०,११,१६ १।६।२७,२०३

२ नीतिवाक्यामृत पत्र २८६

३ वही, पत्र २८६

४ यशस्तिलकचम्पू, पत्र १०८

५ भाव-सग्रह, देवसेनसूरि सुवर्णरौप्यविद्रुम-मौक्तिका जपमालिका।
उपवाससहस्राणी, फल यच्छन्ति जन्तव ॥

अगूठे पर जप करने से मोक्ष मिलता है, तर्जनी पर जप किया जाए तो उपचार सही होता है, मध्यमा-जप से धन-सुख आदि मिलते हैं। अनामिका जप से शान्ति होती है।[1]

अन्त्यजो द्वारा खोदे हुए कुए, बावडी, पोखरणी, तालाब आदि का पानी स्नान-पान के लिए नही लेना चाहिए।[2]

व्रत-भ्रष्ट व्यक्ति और अन्त्यज व्यक्ति के दीखने पर, उनकी वाणी सुनने पर, छींक आने पर, अधोवात होने पर जप छोड देना चाहिए।[3]

उक्त धारणाए विकार हैं और वे जैनतत्त्व की नीव पर प्रहार करने वाली है। ये सब तान्त्रिक और ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव की प्रतिरेखाए हैं।

आचार्य हरिभद्र का दानाष्टक बढती हुई दान की प्रवृत्ति का वास्तविक चित्र उपस्थित करता है। उसमे भगवान् महावीर को महात्मा बुद्ध से इसलिए महान् बताया है कि उन्होने दीक्षा के पूर्व अधिक दान दिया था।

पौराणिक युग मे अर्थवाद की सीमा ने यथार्थवाद पर परदा डाल दिया। धार्मिक लोगो ने अपने-अपने पूज्य देवो के लिए इतनी लम्बी-चौडी कल्पनाए गढीं कि उनसे उनका यथार्थ जीवन ढक गया। देव, गुरु और धर्म की महत्ता का मानदण्ड अतिशयोक्तिया बन गई। जैन पुराणो मे भगवान् शान्तिनाथ के पूर्व-जन्मो का विवरण दिया है। उनमे उनके तीर्थंकर-गोत्र बधने की जो प्रवृत्ति उल्लिखित की है, वह करुणा की ओर जैनो के झुकाव का सकेत देती है। बाज से कबूतर को छुडाने के लिए राजा ने अपना मास दिया। उस कर्म से वे तीर्थंकर बने—ऐसा लिखा गया। सही स्थिति मे यह महाभारत की शिवि द्वारा अपना मास देने की प्रसिद्ध कथा का अनुकरण है और यह लोकाकर्षण के लिए किया गया है। इसमे सदेह का अवकाश नही। बौद्धो मे भी बुद्ध की जीवन-घटनाओ मे ऐसी घटना जुडी

---

१ धर्मरसिक

अगुष्ठाजापो मोक्षाय, उपचारे तु तर्जनी।
मध्यमा धनसौख्याय, शान्त्यर्थं तु अनामिका॥

२ धर्मरसिक ३।५६

अन्त्यजै खनिता कूपा, वापी पुष्करिणी सर।
तेषां जल न तु ग्राह्य, स्नानपानाय च क्वचित्॥

३ धर्मरसिक ३३

व्रतच्युतान्त्यजातीनां, दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने, जृम्भणे जपमुत्सृजेत्॥

४ महाभारत वनपर्व

५. अयोगव्यवच्छेदिका ६

६ धर्म रत्न प्रकरण, विमल कथा १३

है। बौद्ध, वैदिक और जैन, इन तीनो के पौराणिक चरित्रो मे ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका आपस मे आदान-प्रदान हुआ है।

मास-दान की घटना जैन-धर्म की मौलिक मान्यता नही है। इसकी पुष्टि के लिए दूसरा प्रमाण लीजिए। एक ओर जैन-परम्परा के पौराणिक आचार्य मास-दान की प्रवृत्ति को तीर्थंकर बनने का हेतु मानते है, दूसरी ओर दार्शनिक आचार्य महात्मा बुद्ध को कोसते है। आचार्य हेमचन्द्र लिखते है—'स्वमास दानेन वृथा कृपालु '—यह आक्षेप बुद्ध की मास देने की प्रवृत्ति पर किया गया। इसी का विस्तृत रूप उनकी दूसरी रचना 'योगशास्त्र' (२।१) मे मिलता है

निपत्य ददतो व्याघ्रया स्वकाय कृमिसकुलम्।
देयादेयविमूढस्य, दया बुद्धस्य कीदृशी ॥

'देय और अदेय का विवेक रखे बिना बुद्ध ने बाघिन को अपना मास खिलाया, वह कैसी दया ?'

आचार्य सिद्धसेन ने भी यही भाव जताया है

कृपा वहन्त कृपणेषु जन्तुषु, स्वमासदानेष्वपि मुक्तचेतस ।
त्वदीयमप्राप्य कृतार्थकौशल, स्वत कृपा सज्जनयन्त्यमेधस ॥

दूसरी बात यह है कि जैन-आचार्य किसी भी स्थिति मे मास-दान को अनुचित मानते रहे है। जैसे

न य अगणियमहुदाण, तु कथए समयपडिसेहा।[1]

इसी के आगे 'तथाहि' और 'अन्यत्राप्युक्त इनके द्वारा दो गाथाए उद्धृत की है

तथाहि

महुमज्ज मस मूल, भेसज्ज सत्थग्गिजतमताइ।
न कथा विहु कायत्वा, सड्ढेहि पापभीरुहि ॥

अन्यत्राप्युक्त

न ग्राह्याणि न देयानि, पचद्रव्याणि पडितै ।
अग्निर्विष तथा शस्त्र, मद्य मासच पचमम् ॥

इनका तात्पर्य यही है कि श्रावक को अग्नि, विष, शस्त्र, मद्य-मास आदि का दान नही देना चाहिए।

अब कुछ विचार करिए। यदि मास-दान से मेघवाहन तीर्थंकर बनने की क्षमता पैदा कर सकता है, तब महात्मा बुद्ध की मास-दान की प्रवृत्ति की निन्दा क्यो ? और यदि मास-दान से मेघवाहन तीर्थंकर बना तो किसी भी स्थिति मे

---

१ धर्मरत्न प्रकरण, विमल कथा १३

मास देने का निषेध क्यो ? परन्तु इन विरोधी प्रवृत्तियो से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह स्थिति अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है। एक ओर जैन-परम्परा मोहजन्य करुणा को धर्म-साधना नहीं मानती थी, दूसरी ओर उसे धर्म मानने वालों का सख्या-बल प्रबल हो चुका था। जैन इन दोनो स्थितियो के बीच मे थे। उनकी आन्तरिक श्रद्धा मोहजन्य प्रवृत्तियो (राग की परिणतियो) को धर्म मानने से इनकार करती थी और जनमत उन्हे इस ओर खीच रहा था। फलत प्रारम्भ मे वे कुछ झुके। उन्होने अनुकम्पा-कृत कार्यों को अनिषिद्ध बताया। इसकी चर्चा हमे अनुकम्पा दान का भगवान् ने निषेध नही किया इस रूप मे अनेक ग्रन्थो मे मिलती है। आगे चलकर यह पुण्य-स्कन्ध के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया। वर्तमान मे कई जैन इसे धर्म—मोक्ष-साधना भी कहने लगे है।

जैन-धर्म आत्म-धर्म के सिवा और कुछ नही। सामाजिक प्राणी को व्यवहार-धर्म चाहिए। वैदिक विद्वानो ने इस पहलू को मुख्य बनाकर पूरा लाभ उठाया। जैनो को अपनी ओर खीचने लगे। दूसरे उन्होने भक्ति-मार्ग का ऐसा स्रोत बहाया कि जनता उसमे बह चली। त्याग-तपस्यामूलक कठोर जैन-धर्म जनता से परे हो चला। जैन-आचार्य इस स्थिति से लडते रहे। आखिर उन्हे स्थिति से समझौता भी करना पडा। उसका सकेत हमे एक प्राचीन श्लोक मे मिलता है

वैदिको व्यवहर्तव्य , ध्यातव्य परम शिव ।
श्रोतव्य सौगतो धर्म , कर्त्तव्य पुनरार्हत ॥

'व्यवहार वैदिक धर्म का पालन करना चाहिए, ध्यान शैव पद्धति से करना चाहिए, बौद्ध-धर्म सुनना चाहिए और जैन धर्म की आराधना करनी चाहिए।'

सोमदेव सूरि ने लिखा है

सर्व एवहि जैनाना, प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानि र्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥

यह उसी स्थिति मे लिखा गया है, जब जैनो पर दूसरे लोग यह आक्षेप करते कि ये व्यवहार को मानकर नही चलते। उन्होने बताया कि जैन श्रावको को वे सब लौकिक विधिया मान्य है, जिनसे सम्यक्त्व और व्रत मे दोष न लगे।

उपाध्याय समयसुन्दर जी ने 'विशेष शतक' मे हरिभद्र सूरि की 'आवश्यक बृहद्वृत्ति' का उल्लेख करते हुए बताया है कि श्रावक अन्य-दर्शनी को धर्म-बुद्धि से दान दे तो सम्यक्त्व मे दोष लगता है। अनुकम्पा-बुद्धि से दे तो वह दूसरी बात है। उसका निषेध नही है। आगे चलते-चलते एक श्लोक उद्धृत किया है, उसका अर्थ है—'पात्र और अपात्र का विचार सिर्फ मोक्ष-दान के प्रसग मे होता है। दया-दान का कही भी निषेध नही है। जगह-जगह यह लिखा गया है कि अनुकम्पा दान

या दया-दान का निषेध नहीं है। इससे यह जान पड़ता है कि जैन-आचार्यों ने इसे रक्षा-सूत्र के रूप मे बरता है। इसके द्वारा उन्होंने लोक-व्यवहार उठाने के आरोप का समाधान किया, तीर्थंकारो ने करुणा-दान या मोह-दया—जो व्यावहारिक प्रवृत्तिया हैं, मे पुण्य है—यह नही बताया। व्यवहार से लडते-लडते भी उन्होंने तत्त्व को यकायक नही बदला—यह मध्यवर्ती साहित्य के मनन से स्पष्ट होता है।

४

जैन-दर्शन की समग्र दृष्टि और हिंसा-अहिंसा

विविध मान्यताओ के कारण धारणाए सकुल बन जाती हैं—यह संस्कार-प्रधान-वृत्ति है। जैन-दर्शन के विविध अग गुण-स्थान, कर्मशास्त्र, क्रियावाद, साधना-विधान आदि-आदि सभी का सार एक है—'अहिंसा या विरति मुक्ति-मार्ग है और हिंसा या अविरति ससार-मार्ग।' प्रत्याख्यान मोह का क्षयोपशम होने पर भी पाचवे गुण-स्थान वाले व्यक्ति का जीवन देश-विरति होता है। वह कुछ विरत होता है, शेष अविरत रहता है। वह जो विरत-अविरत है यह तो स्थिति है।[1] इसका विवेक यह है, जितनी विरति उतना धर्म-पक्ष और जितनी अविरति उतना अधर्म-पक्ष, इसलिए देश-विरति को सुप्त-जागृत, धर्माधर्मी, बाल-पडित कहा जाता है।[2] ये (बाल, पडित आदि) जीवन के दो पक्ष हैं, किन्तु मिश्रण नही। विरति-अवरति—दोनो एक जीवन मे होते हैं, किन्तु उनका स्वरूप एक नहीं होता। विरति की अपेक्षा व्यक्ति धर्मी और पडित होता है और अविरति की अपेक्षा अधर्मी और बाल। यह सकुलता आधार की है, अध्यवसाय या प्रवृत्ति की नही। मनुष्य हिंसक-अहिंसक दोनो होता है, इसे कौन अस्वीकार करता है? अस्वीकार इस बात का है कि हिंसा-अहिंसा का स्वरूप और उनकी कारण-सामग्री एक नहीं हो सकती। साधना मे यानी साधना-काल मे पाप और पुण्य दोनो हो सकते हैं किन्तु साधना में पुण्य और पाप दोनो नही होते। तात्पर्य की भाषा मे साधना का अर्थ है—विरति। विरति से पाप-बन्ध नही होता। प्रकारान्तर से यू कहा जा सकता है कि विरति होती है, उसी से पाप-बन्ध रुकता है। अविरति जो शेष रहती है, उससे पाप का बन्ध नही रुकता। इसकी चर्चा भगवान् महावीर की वाणी में इस प्रकार है

---

१ भगवती १६।६, १७।२

२ सूत्रकृताग २।२।३२

गौतम ने पूछा—भगवन् ! बाल-पण्डित मनुष्य क्या नैरयिक का आयुष्य बांधता है ? यावत् देवता का ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! वह नैरयिक का आयुष्य नहीं बाधता, देवता का बाधता है ।

गौतम—इसका क्या कारण है, भगवन् ?

भगवान्—गौतम ! बाल-पंडित मनुष्य तथारूप श्रमण-ब्राह्मण से आर्य-धर्म का वचन सुनकर कुछेक हिंसा आदि से विरत होता, कुछेक से नहीं होता। कुछेक हिंसा आदि का प्रत्याख्यान करता है, कुछेक का नही करता। इसलिए वह देश-विरति होता है। वह कुछेक हिंसा आदि का प्रत्याख्यान करता है, उसी देश-प्रत्याख्यान के कारण वह नैरयिक का आयुष्य नही बाधता, यावत् देव-आयुष्य बाधता है।[1]

अप्रत्याख्यान-मोह का क्षयोपशम होने पर सर्व विरति होता है। यह साधु-जीवन है। यह हिंसा-अहिंसा-सकुल नही है। इसमे भी प्रमाद-जनित हिंसा हो सकती है। अविरति की हिंसा, जो पाचवें गुण-स्थान तक सतत प्रवाहित रहती है और जीवन को निरन्तर हिंसा-सकुल बनाए रखती है, वह इसके नही होती। इसीलिए सयमी या सविरति के जीवन-निर्वाह के साधन सयममय होते हैं। अविरति या देश-विरति के जीवन-निर्वाह के साधन उस कोटि मे नही आते। समूचे प्रपच का सार दो शब्दो मे है—वस्तु-वृत्ति के स्वरूप-भेद और काल-भेद की अपेक्षा एक व्यक्ति का जीवन हिंसा-अहिंसा-सकुल होसकता है, किन्तु हिंसा-अहिंसा, अविरति-विरति, पाप-पुण्य की कारक शक्ति सकुल नही हो सकती।

बडी हिंसा को छोड छोटी हिंसा को करना—यह साधना का मार्ग नही है। साधना का अश उतना ही है, जितना कि हिंसा का परित्याग। शेष जो हिंसा है, वह साधना नही है। हिंसा का अल्पीकरण होते-होते साधना का क्रम आगे बढता है। आवश्यकता का बन्धन शिथिल होते-होते एक दिन चरम या परम कोटि की साधना प्राप्त हो जाती है। फिर ससार शेष नही रहता। सूत्रकृताग के वृत्तिकार ने इसे कथचित् आर्य और पारम्पर्य रूप मे सब दु ख के क्षय का मार्ग और एकान्त सम्यक्त्व बतलाया है।

हिंसा और अहिंसा का विवेक

गुण-स्थान के आधार पर हिंसा और अहिंसा का विवेक कर लेना अच्छा होगा। यह सही है—वास्तविक हिंसा आत्म दोष-जनित होती है। व्यावहारिक

१ भगवती १।८

और वास्तविक, दोनों कोटि की हिंसा की निवृत्ति अयोगी-दशा (चतुर्दश गुण-स्थान) में होती है। वीतराग के शेष तीन गुण-स्थानों में व्यावहारिक यानी काय-योग-जनित हिंसा हो सकती है, वास्तविक नही। अवीतरागी गुण-स्थानों (सातवें से दसवें तक) मे कषायाशजनित अन्तर्-परिणति रूप हिंसा होती है। छठे मे प्रमाद-जीवन अशुभ योग रूप हिंसा हो सकती है, अविरतिजनित हिंसा नही। शेष पाचो मे प्रमाद-जनित हिंसा का दाचित्क होती है और अविरति रूप हिंसा नैरन्त-रिक। छठे गुणस्थान वाले मुनि अविरति रूप हिंसा-निवृत्ति की दृष्टि से ही अहिंसक हैं। प्रमाद-जनित हिंसा की दृष्टि से वे कदाचित् हिंसक भी हो सकते है। भगवती सूत्र का एक प्रकरण देखिए

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव क्या आत्मारम्भ—आत्म-हिंसक है या परारम्भ—परहिंसक या उभयारम्भ—उभयहिंसक या अनारम्भ—अहिंसक ?

भगवान्—गौतम! जीव आत्मारम्भ भी होते है, परारम्भ भी, उभयारम्भ भी और अनारम्भ भी।

गौतम—भगवन्! यह कैसे ?

भगवान्—गौतम! जीव दो प्रकार के होते हैं—ससारी और सिद्ध। सिद्ध अनारम्भ होते है। ससारी जीव दो प्रकार के होते हैं—सयत और असयत। सयत दो प्रकार के होते है—प्रमत्त सयत और अप्रमत्त सयत। अप्रमत्त-सयत अनारम्भ होते है। प्रमत्त-सयत शुभ योग की अपेक्षा अनारम्भ होते हैं और अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारम्भ, परारम्भ और उभयारम्भ—तीनो होते है, अनारम्भ नही होते। असयत अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भ, परारम्भ और उभयारम्भ होते है, अनारम्भ नही होते। साधु और गृहस्थ मे इतना अन्तर है—गृहस्थ अविरति की अपेक्षा सदा सर्वथा हिंसक होता है, उस स्थिति मे छठे गुण-स्थान का अधिकारी कदाचित् प्रमाद-काल मे ही हिंसक होता है, शेष काल मे नही।

पुण्य और धर्म का स्वरूप-भेद

पुण्य धर्म से नही होता। पाप जैसे अधर्म से जुडा हुआ है, वैसे पुण्य धर्म से जुडा हुआ नही है। जहा अधर्म, वहा पाप-बन्ध—जैसी व्याप्ति है। पुण्य की धर्म के साथ एकान्त-व्याप्ति नहीं है। धर्म के दो क्रम हैं—सवर और निर्जरा। सवर से कर्म मात्र का निरोध होता है। निर्जरा के साथ पुण्य का थोडा-सा लगाव है। निर्जरा से पुण्य नहीं होता। वह निर्जरा का सहचारी है। निर्जरा होती है, वहा पुण्य-बन्ध होता है, वह भी एकान्ततः नही। सर्वनिर्जरा (चतुर्दश-गुणस्थान की

निर्जरा) के समय वह नही होता। वह देश निर्जरा के साथ आता है। पुण्य के साथ निर्जरा की व्याप्ति है, निर्जरा के साथ पुण्य की व्याप्ति नही है। जहां पुण्य-बन्ध है, वहां निर्जरा अवश्य है। किन्तु जहा निर्जरा है, वहां पुण्य-बन्ध है भी और नहीं भी। अधर्म के सहज रूप चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय। ये चारो पाप के हेतु हैं।

धर्म के सहज रूप पाच हैं—सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय तथा अयोग। ये पाचों पाप और पुण्य दोनो के हेतु नही हैं।

जीव की एक दशा और बाकी है। वह है योग। विवाद-स्थल यही है। मन, वाणी और शरीर के प्रयत्न मात्र की समष्टि सज्ञा योग है। योग अपने आप मे शुभ-अशुभ कुछ भी नही है। चार आस्रवो से अनुगत होता है, तब वह अशुभ हो जाता है और सम्यक्त्व आदि से अनुगत होता है, तब शुभ[1]। कर्म-शास्त्र की भाषा में मोह के उदय से प्रेरित हो प्रवर्तने वाला (औदयिक) वीर्य अशुभ और मोह के क्षयोपशम से प्रेरित हो प्रवर्तने वाला (क्षायोपशमिकादि) वीर्य शुभ।

शुभ योग से निर्जरा होती है। निर्जरा के समय होने वाला बन्ध पाप का नही होता। आत्मा की प्रवृत्ति, स्पन्दन या एजन है, वहा बन्ध अवश्य होता है। किन्तु पुण्य-पाप दोनों का बन्ध एक साथ नहीं होता, सहज रूप से बधने वाले पाप के साथ-साथ पुण्य भी बंधता है, यह दूसरी बात है। चार आस्रव का पाप-बन्ध निरतर और सहज होता है। अशुभ योग से बधने वाला पाप निरन्तर नही होता। सहज भी नहीं। वह अशुभ प्रयत्न होने पर ही बधता है। पुण्य निरन्तर और सहज भाव से नही बधता। उसका बन्ध शुभ प्रयत्न से ही होता है। पुण्य बन्ध होता है, उस समय भी सहज भाव से पूर्ववर्ती चार आस्रव द्वारा पाप बन्ध होना रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि पुण्य और पाप एक साथ भी होते हैं किन्तु प्रवृत्ति रूप मे पुण्य-पाप का बन्ध एक साथ नही होता। कारण साफ है। प्रवृत्ति रूप पुण्य-पाप के हेतु शुभ-अशुभ योग है। वे दोनो एक साथ नही होते। योग शुभ या अशुभ होता है, मिश्र नही।[2] अध्यवसाय की दो ही राशि हैं—१ शुभ, २ अशुभ। तीसरी राशि नही है।[3]

क्रिया दो प्रकार की होती है—सम्यक् और असम्यक्। उसका मिश्र रूप नही होता। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा :

---

१. (क) आवश्यक चूर्णि २, (ख) नव सद्भाव पदार्थ निर्णय १।६६

२ विशेषावश्यक भाष्य १।३५ सुभो वाऽसुभोवा सएण समयम्मि।

३ विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति १।३६

भगवन् ! अन्य तीर्थिक ऐसा कहते है, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करते हैं— एक जीव एक समय में दो क्रियाए करता है। वे दो क्रियाए हैं—सम्यक् और मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया भी करता है और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया भी करता है। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया करता है और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय मे दो क्रियाए करता है। यह कैसे, भगवन् ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! एक जीव एक समय दो क्रियाए करता है, यह जो कहा जाता है, वह सच नही है। मैं इस प्रकार कहता हू, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करता हू, एक जीव एक समय मे एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया नही करता और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया नही करता। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया नही करता और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया नहीं करता।[1]

इस प्रकार एक जीव एक समय मे एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या। मन, वचन और काय का व्यायाम एक समय मे एक ही प्रकार का होता है।[2] उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम भी एक समय मे एक ही होता है।[3]

कर्मशास्त्र की दृष्टि से भी एक समय मे एक ही प्रकार का अध्यवसाय होता है। उदाहरण के लिए वेदनीय कर्म को लीजिए, उसकी दो प्रकृतिया है— सात और असात। उसका बध सात, असात—इन दो ही प्रकृतियो के रूप मे होता है। सातासात जैसी मिश्र प्रकृति का बन्ध नही होता।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! जीव सात वेदनीय कर्म करते है ?

भगवान्—हा, गौतम ! करते है।

गौतम—भगवन् ! जीव असात वेदनीय कर्म करते है ?

भगवान्—हा, गौतम ! करते है।[4]

कर्म-ग्रन्थ भी यही बताता है—वेदनीय की एक समय मे एक ही प्रकृति बधती है।[5]

---

१. जीवाभिगम ३।२।१०४

२ स्थानांग १

३. वही, १

४ भगवती ७।६।२८६

५ कर्मग्रन्थ ५।८१

सात और असात—ये दोनों अध्रुवबंधी और अध्रुवोदयी प्रकृतियां हैं। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, इसलिए इनका एक साथ न बन्ध होता है और न उदय। इनकी वेदना भी एक साथ नहीं होती। यद्यपि वेदना[1] को मिश्र बताया है किन्तु वह व्यावहारिक है, स्थूलकाल की संकलना मात्र है, तात्त्विक नहीं। जैसाकि टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—'अत्रापि तावन्त विवक्षितकालमेक विवक्षितत्वात् सातासातानुभवो युगपत् प्रतिपादित परमार्थतस्त्वेकैव वेदितव्य इति।'

ऊपर के सभी प्रमाणो से यही जान पडता है कि आत्म-वीर्य (योग) मिश्र नही होता। वह मात्र-पुण्यहेतुक या मात्र-पापहेतुक होता है।

सकषाय जीवन . एक और अखण्ड

वीतराग के पाप का बन्ध होता ही नही। उसके केवल पुण्य का बन्ध होता है। अवीतराग या सकषाय व्यक्ति के पाप का बन्ध निरन्तर होता रहता है। इसीलिए पुण्य-बन्ध के समय भी उसके केवल निर्जरा या केवल पुण्य-बन्ध होता है—ऐसी मान्यता नही है। आचार्य भिक्षु की मान्यता यह है कि कर्तव्य रूप दो कार्य (योग की प्रवृत्ति से बधने वाले पुण्य-पाप) एक साथ नही हो सकते। पुण्य-बध, जिस प्रवृत्ति का सहचारी है, उससे पाप नही बधता और जिससे पाप-बन्ध होता है, उसके साथ पुण्य का बन्ध नही होता।

सकषाय जीवन एक और अखण्ड होता तो उसके जैसे पाप का बन्ध निरन्तर और बिना प्रयत्न के भी होता रहता है, वैसे पुण्य का बन्ध भी निरन्तर और सहज ही होता। किन्तु ऐसा नही होता। इसलिए कहा जा सकता है कि सकषाय जीवन का प्रत्येक क्षण पुण्य-पाप-मिश्रित नही होता। पुण्य-बन्ध के समय मिथ्यात्व आदि की आन्तरिक मलिनता द्वारा सहज पाप बधता है, इस दृष्टि से वे क्षण मिश्रित कहे जा सकते हैं, किन्तु योगरूप प्रवृत्ति और उसके परिणामस्वरूप बधने वाले पुण्य-पाप के क्षण मिश्रित नही होते। सकषाय जीवन मे शुभ योग होता है। उस समय कषाय विद्यमान रहता है पर शुभ योग तज्जनित नही होता। वह चारित्र मोह के विलय जनित होता है। योग कषाय से वासित होकर शुभ नही होता किन्तु कषाय के यावत् मात्र विलय से वासित होकर वह शुभ होता है। कर्मशास्त्र की भाषा मे मोह-कर्म का औदयिकभाव-योग शुभ नही होता। किन्तु मोह-कर्म का क्षायोपशमिकभाव-योग शुभ होता है।

पुण्य-पाप के हेतु को स्वतत्र मानने से गुणस्थान की व्यवस्था विशृखल नही बनती।

---

१ प्रज्ञापना ३५।३२८ तिविहावेयणा पण्णत्ता तेजहा-साता, असाता, सातासाता।

गुणस्थान मोह-विलय की क्रमिक दशाए हैं। आस्रव और मोह का ज्यो-ज्यो विलय होता है, त्यो-त्यो आत्मिक गुणो का विकास होता चला जाता है। इनमे पहले तीन गुणस्थानों मे निर्जरा, शुभ-अशुभ योग जनित पुण्य-पाप और मिथ्यात्वादि आस्रव जनित नैरन्तरिक पाप—ये सब होते हैं।

चौथे गुणस्थान मे मिथ्यात्व आस्रव नही होता। शेष सब होते हैं। छठे मे अविरति नही होती। प्रमाद आदि शेष सब होते हैं। सातवां अप्रमादी है। यहा से अशुभ-योग-जनित पाप-बन्ध रुक जाते है। दसवे गुणस्थान तक केवल नैरन्तरिक पाप-बन्ध होता है। ग्यारहवें से लेकर आगे वह सूक्ष्म अध्यवसाय-जनित नैरन्तरिक पाप भी नही होता। वहा तेरहवें तक केवल पुण्य-बन्ध और निर्जरा होती है तथा चतुर्दश गुणस्थान मे केवल निर्जरा होती है। इन चौदह गुणस्थानो मे यथोचित निर्जरा, पुण्य व पाप, इन तीनो के स्थान है। किन्तु एक प्रवृत्ति से पुण्य-पाप का कोई स्थान नही है। इसलिए पुण्य-पाप के निमित्तभूत योग को अमिश्र मानने पर कुछ भी बाधा आए—ऐसा नही लगता।

५

दान-मीमांसा

आचार्य भिक्षु ने कहा—'सयमी दान मोक्ष का मार्ग है और असयमी दान ससार का।'[1] 'समुच्चय दान मे धर्म है'—ऐसा कहने वाले जिन-धर्म की शैली नही पकड सके। उन्होने गाय और आक के दूध का मिश्रण कर डाला—आचार्य भिक्षु का यह मत था।[1] असयमी को दान दो, मत दो—यह उनका प्रतिपाद्य विषय नही था।[2] देने वाला देता है, लेने वाला लेता है, उस समय साधु दान के गुण-दोष नही बताता।[3] कारण यह है कि साधु किसी के अन्तराय देने का इच्छुक नही। तत्त्व-चर्चा या तत्त्व-निरूपण के समय जो वस्तु-स्थिति है उसे प्रकट करना ही चाहिए।

असयमी-दान को धर्म न मानना परोक्ष रूप मे उसका निषेध नही तो क्या है? स्थूल दृष्टि मे कुछ ऐसी ही उलझन आती है? पर आचार्य भिक्षु ने इसे बडी मार्मिकता से सुलझाया है। वे कहते है—असयमी दान का निषेध करना और असयमी दान को ससार मार्ग या अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु बताना एक बात नही है। निषेध वह होता है यदि दान देते को रोके या टोके। किन्तु पाप यानी अशुभ-कर्म-बन्ध को अशुभ-कर्म-बन्ध कहा जाए, यह तो निर्मल ज्ञान है, है को है कहना है, वस्तु-स्थिति का सही स्वीकार है। साधु भिक्षा के लिए गया तब उसे एक घरमे गाली और आक्रोश मिला, दूसरे घर से अपने यहा आने का निषेध मिला। साधु गाली मिली, वहा फिर जा सकता है किन्तु निषेध किया, वहा नही जा सकता। इससे साफ होता है कि कठोर शब्द और निषेध दोव वस्तुए हैं।[4]

असयमी दान पाप या अशुभ कर्म-बन्ध का हेतु है तो कोई क्यो देगा? यह

---

१ व्रताव्रत चौपई २।१४
समचे दान मैं धर्म कहै तो, नहिं जिन धर्म सेली रे।
आक ने गाय नो दूध अज्ञानी, कर दियो भेल सभेली रे
२ वही ३।१०
३ वही ३।१७,२६
४ वही ३।३९,४०,४२,४३

प्रश्न आता जरूर है पर मूल्यवान् नहीं है।

कोई नहीं देगा—इसीलिए क्या ससार-मार्ग को मोक्ष-मार्ग बता जनता को भुलावे मे डालना चाहिए ? 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जैसे सकल्प को पूरा करने वाला दर्शन 'ज्योतिषो मा तमो गमय' के पथ पर नहीं चल सकता और न उसे चलना ही चाहिए।

सुपात्र-कुपात्र

'तेरापथी साधु-साध्वियो के सिवाय ससार के सब जीव कुपात्र हैं।' तेरापंथ की यह मान्यता कतई नही है। आचार्य भिक्षु ने व्यक्तिपरक सिद्धान्त-विवेचन कभी नही किया। उन्होने अमुक सुपात्र और अमुक कुपात्र—यह नही कहा—उन्होंने सुपात्र-कुपात्र के लक्षण बताए—इनकी व्याख्या दी।[1] अध्यात्मवाद के अनुसार सुपात्र-कुपात्र की चर्चा मुख्यतया दान के प्रसग मे आती है। सुपात्र का अर्थ होता है—दान के योग्य और कुपात्र का अर्थ है—दान के अयोग्य।

दान के योग्य या दान का अधिकारी एकमात्र सयमी है। वह भिक्षा-मात्र-जीवी होता है। भगवान् महावीर ने 'नव कोटि शुद्ध'—भिक्षा का जो निर्देश किया है, वह सयमी के लिए ही है। वह सयमी जीवो को न मारता है, न मरवाता है और न मारने वाले का अनुमोदन करता है, वह न भोजन पकाता है, न दूसरो से पकवाता है और न पकाने वाले का अनुमोदन ही करता है, वह किसी वस्तु को न मोल लेता है, न लेने की प्रेरणा देता है और न अनुमोदन ही करता है।[2] गृहस्थ इस नवकोटि भिक्षा का अधिकारी नही है। गृहस्थ गृहस्थ को वस्तु का दान देता है, उसे असयत-धर्म[3] और द्रव्य-धर्म[4] कहा है। दान की दृष्टि से सयमी इसलिए सुपात्र है कि उसका खान-पान समूचा अहिंसामय होता है। सयमी अहिंसक वृत्ति से प्राप्त भिक्षा को अहिंसक शरीर के निर्वाह के लिए अहिंसा-विधि से खाता है। उसका खाना सयममय है, इसलिए उसका भिक्षा पाना भी सयममय है।

जिसका खाना सयममय नही, उसका पाना भी सयममय नही होता। गृहस्थ असयमी होता है, इसलिए उसका खान-पान अहिंसक शरीर का पोषक नही माना जाता। वह न तो अहिंसक विधि से भोजन पाता है और न अहिंसक शरीर के निर्वाह के लिए भोजन करता है। इसलिए वह दान का अधिकारी नही और इसी-

---

१ देखें भिक्षुदृष्टांत ६६, १००
२ स्थानांग ९।६८१
३ सूत्रकृतांग १।१४ असाहु धम्मे
४. वही १।६ वृत्ति।

लिए उसे दान की दृष्टि से कुपात्र यानी दान के लिए अयोग्य कहा जाता है। आचार्य भिक्षु ने गृहस्थ को एकान्तत कुपात्र नहीं माना है। उसके जीवन को दो भागो मे बांटा है—सयम-जीवन और असयम-जीवन या त्याग-जीवन और भोग-जीवन। सयम-जीवन की दृष्टि से गृहस्थ सुपात्र है और असयम-जीवन की दृष्टि से कुपात्र।[1]

सूत्रकृताग अध्ययन ११ मे तीन पक्ष बताए है—धर्म, अधर्म और मिश्र [धर्म-अधर्म]। सर्व-विरति सयमी धर्म पक्ष मे आता है, असयमी अधर्म पक्ष मे, देश-विरति जो व्रती और अव्रती दोनो होता है वह मिश्र पक्ष मे। श्रावक—गृहस्थ के व्रत धर्म और अव्रत अधर्म होता है, इसीलिए उसे धर्मी अधर्मी, सयमी-असयमी, व्रती-अव्रती और बाल-पडित कहा गया है। व्रत की दृष्टि से श्रावक धर्मी, सयमी, व्रती और पडित होता है और अव्रत की दृष्टि से अधर्मी, असयमी, अव्रती और बाल।

गृहस्थ या श्रावक का खान-पान असयममय है, इसलिए वह स्वय खाए या दूसरा उसे खिलाए, वह मोक्ष धर्म नही है। गृहस्थ स्वय पाए या दूसरा उसे दे, वह मोक्ष धर्म नही है।

आचार्य भिक्षु गृहस्थ जीवन की हिसक प्रवृत्तियो की सुपात्रता स्वीकार नही करते, यही उनका मार्मिक दृष्टिकोण है। वे कहते हैं—जो लोग हिसा की वृत्ति को सुपात्र मानते हैं, वे जिन-धर्म या वीतराग-मार्ग के अनजान है।[2] गृहस्थ एकान्तत सुपात्र हो कैसे सकता है ? हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह का सेवन करने वालो को एकान्त सुपात्र मानने वाले अंधेरे मे है।[3] एक प्राणी को मारने का त्याग करने वाला भी श्रावक हो जाता है। वह उसकी सुपात्रता है किन्तु बाकी की जो हिंसामय प्रवृत्ति है, वह सुपात्रता नही हो सकती।[4] गृहस्थ मात्र को एकान्तत कुपात्र कहते है वे भी भूले जा रहे है। कहना होगा—उन्होने आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण समझा नहीं। उन्होने जयाचार्य की वाणी का मर्म नही छुआ। आचार्य भिक्षु और जयाचार्य ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की अपेक्षा गृहस्थ को सुपात्र और इनके अभाव की अपेक्षा उन्हे कुपात्र कहा है। इसका प्रमाण उन्ही की रचनाए दे रही है।

पात्र-अपात्र या सुपात्र-कुपात्र की चर्चा भारतीय साहित्य मे विपुल मात्रा मे

---

१ व्रताव्रत चौपई ४।१८—२०, ३२—४०
२ वही ४।२०
३ वही ४।२३
४ वही ४।३१

मिलती है। मोक्ष-दान के लिए सयमी के सिवा और कोई सुपात्र नही माना जाता। आचार्य भिक्षु ने इसी तत्त्व को साफ-साफ और कान्त रूप मे रखा। यह उनका प्रतिपाद्य विषय नहीं था कि गृहस्थों को एकान्त कुपात्र कहा जाए। उनके विचारों से मतभेद रखने वाले कुछ लोगो द्वारा ऐसा भ्रम फैलाया गया और व्यावहारिक बातें खडी कर लोगो को उलझाने की चेष्टाए की गई किन्तु सही स्थिति वैसी है नही।

पात्र-कुपात्र-विचार

सुपात्रायाप्यपात्राय, दानं देय यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्ध स्याद्, निषिद्ध न कृपाधिया ॥

यह दिगम्बर प० राजमल्ल का अभिमत है—'पात्र और अपात्र दोनो को यथोचित दान देना चाहिए किन्तु अपात्र को पात्र-बुद्धि से दान देना निषिद्ध है। उसे कृपा-बुद्धि या अनुकम्पा-बुद्धि से दान देना निषिद्ध नही है।' तात्पर्य यह होगा कि मोक्ष-दान के लिए जो अपात्र या कुपात्र है वह भी अनकम्पादान के लिए पात्र है। मोक्ष-दान का पात्र सयमी होता है। अनुकम्पा-दान का पात्र होता है—दीन, दु खी, भूखा, प्यासा, रोगी, म्लान।

आचार्य हरिभद्र के विचारानुसार

सीलव्वयरहियाण, दाण ज दिज्जइ कुपत्ताण।
त खलु धोवइ वत्थ, रुदिरकय लोहितेणेव ॥

शीलव्रत-रहित व्यक्ति कुपात्र है। उन्हे दान देना वैसा है, जैसे लहू से भरे कपडे को लहू से धोना।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते है

सप्पुरिसाण दाण, कप्पतरुण फलाण सोह वा।
लोहीण दाण जइ, विमाण सोहासव्वस्स जाणेइ ॥

सत्पुरुषो को दान देना कल्पतरु की भाति फल देने वाला है—शोभा लाता है। लोभी को दान देना मृतक की रथी की शोभा जैसा है।

अमृतचन्द्रसूरि के विचार पढिए

हिंसाया पर्यायो लोभ —लोभ हिंसा का पर्याय है—दूसरा नाम है। लोभी जो है, वह हिंसक है।

पिण्डनिर्युक्ति (४५५) मे लिखा है.

१ हारिभद्रीय अष्टक, अध्याय २१।
२ रयणसार २६
३ अमितगति-श्रावकाचार

दाण न होइ अफल, पत्तमपत्तेसु सन्निजुज्जंत ।
इय विभणिए वि दोसा, पससओ किं पुण अपत्ते ॥

पात्र या अपात्र किसी को दो, दान अफल नहीं होता—ऐसा कहना भी दोष है, तब भला अपात्र-दान की प्रशसा करे, उसका तो कहना ही क्या ?

'अपात्र-दान का फल पाप के सिवा कुछ नही है। बालुकणो को पीलने वाला केवल खेद ही प्राप्त करता है। असयमी को दान देकर जो पुण्य की इच्छा करता है, वह आग मे बीज डालकर अनाज पैदा करना चाहता है'—आचार्य अमितगति के ये विचार उनके शब्दो मे यो हैं

'अपात्रदानत किञ्चित्, न फल पापत परम् ।
लभ्यते हि फल खेदो, बालुका-पिण्ड पीडने ॥'
'वितीर्य यो दानमसयतात्मने, जन फल काक्षति पुण्यलक्षणम् ।
वितीर्य बीज ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्तदूषणम् ॥'[1]

आदिपुराण मे लिखा है—'अपात्र को दान देने वाला 'कुमानुषत्व' पाता है—नीच मनुष्य बनता है। लोहमय नौका जैसे पार नही पहुचाती, वैसे ही दोषवान् व्यक्ति ससार के पार नही लगाता। जैसे

कुमानुषत्वमाप्नोति, जन्तुर्ददपात्रके ।
नहि लोहमय यानपात्र-मुत्तारयेत् परम् ॥ १४१
तथा कर्मभराभ्रान्तो, दोषवान् नैव तारक ॥१४४

महापुराण के दान-सम्बन्धी विचार

पात्र रागादिभिर्दोषै, अस्पृष्टो गुणवान् भवेत् ।
तच्च त्रेधा जघन्यादि-भेदैर्भेदमुपेयिवत् ॥
जघन्य शीलवान् मिथ्या-दृष्टिश्च पुरुषो भवेत् ।
सदृष्टि मध्यम पात्र, नि शीलव्रतभावत ॥
सद्दृष्टि शीलसम्पन्न, पात्रमुत्तममिष्यते ।
कुदृष्टि र्यो विशीलश्च, नैवपात्रमसौ मत ॥
कुमानुषत्वमाप्नोति, जन्तुर्ददपात्रके ।
अशोधितमिवालाबु, तद्धि दान प्रदूषयेत् ॥
आमपात्रे यथा क्षिप्त, मक्षु क्षीरादि नश्यति ।
अपात्रे पि तथा दत्त, तद्धि स्व तच्च नाशयेत् ॥
दोषवान् नैव तारक ॥
तत परमनिर्वाण-साधनरूपमुद्वहन् ।

१ अमितगति-श्रावकाचार

कायस्थित्यर्थमाहार-मिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥
न वांछन् बलमायुर्वा, स्वादं वा देहपोषणम् ।
केवल प्राणधृत्यर्थं, सन्तुष्टो ग्रासमात्रया ॥
पात्रं भवेद् गुणैरेभि , मुनि स्वपरतारक ।
तस्मै दत्तं पुनात्यन्नं, अपुनर्जन्मकारणम् ॥

महापुराण, पर्व २० । १३९-१४७

इस प्रकार पचासो ग्रन्थों मे पात्र-कुपात्र या अपात्र का विचार मिलता है । किन्तु ध्यान रखिए—यह सब दान के प्रसग में हुआ है । दान के लिए पात्र कौन और कुपात्र कौन, दूसरे शब्दो मे दान का अधिकारी कौन और अनधिकारी कौन या दान के योग्य कौन और अयोग्य कौन—यह चर्चा गया है । यह विचार अध्यात्म-दर्शन या धर्मशास्त्रो के द्वारा हुआ है, इसलिए सासारिक दान की दृष्टि से अनु-कम्पा की परिस्थिति मे सभी प्राणी दान के पात्र, आज की भाषा मे सहयोग के अधिकारी माने गए है और मोक्षदानकी दृष्टि से पात्र केवल सयमी माने गए हैं और असयमी कुपात्र । तात्पर्य यह है कि असयमी व्यक्ति मोक्षार्थ दान लेने के अयोग्य हैं।

प्राय सभी आचार्यों ने पात्र-कुपात्र का विवेचन करते हुए आध्यात्मिक गुणो को मापदण्ड माना है । वसुनन्दि-श्रावकाचार मे लिखा है—'जो सम्यक्त्व, शील और व्रत रहित है, वह अपात्र है । व्रत, नियम और संयम को धारण करने वाला साधु उत्तम पात्र होता है ।'

आदिपुराण मे भी ऐसी ही व्यवस्था है—'पाच अणुव्रतो को पालने वाला, सम्यक् दृष्टि मध्यम पात्र है, साधु उत्तम पात्र है और कुदृष्टि और शील रहित व्यक्ति पात्र नही है ।'

एक दूसरी व्यवस्था और लीजिए—सयमी उत्कृष्ट पात्र है, अणुव्रती मध्यम पात्र है, सम्यग् दृष्टि जघन्य पात्र है, सम्यग्दृष्टि नही किन्तु व्रती है, वह कुपात्र है और जो न सम्यग्दृष्टि है, न व्रती है वह अपात्र है । मूल श्लोक पढिए

'उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्य,
मध्य व्रतेन रहित सुदृश जघन्यम् ।
निर्दर्शन व्रतनिकाययुतं कुपात्र,
युग्मोज्झित नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥'

अब आचार्य भिक्षु के विचार पर मनन करिए। वे कहते हैं एकान्तत सुपात्र संयमी है । श्रावक यानी अणुव्रती सुपात्र भी है और कुपात्र भी । जितनी सीमा तक व्रती है, उतनी सीमा तक सुपात्र है और अव्रत की सीमा में वह कुपात्र है । सम्यग् दृष्टि सुपात्र भी है और कुपात्र भी । सम्यग्दृष्टि ज्ञान, तपस्या आदि गुणो की

अपेक्षा सुपात्र और दोष की अपेक्षा कुपात्र है। मिथ्यादृष्टि और अव्रती कुपात्र है। यह व्यवस्था व्यक्तिपरक नहीं, गुणपरक है। आत्म-गुण या निरवद्य प्रवृत्ति की अपेक्षा व्यक्ति को सुपात्र और आत्म-विकार या सावद्य प्रवृत्ति की अपेक्षा उसे कुपात्र कहा जाता है। असंयमी का खान-पान निरवद्य नहीं है। इसलिए वह खान-पान की दृष्टि से सयमी नही है। इसे सयम की दृष्टि से परखिए। कोई उलझन नही होगी।

आचार्य भिक्षु के विचारानुसार कुपात्र का अर्थ है—असयमी। असयमी कुपात्र है और सयमी सुपात्र या यू कहना चाहिए कि कुपात्र भाव का आधार असयम है और सुपात्र भाव का आधार सयम। वे असयमी के लिए कुपात्र शब्द का प्रयोग करते हैं

'असंजती नै जीवा बचावियां, बले असजती नै दिया दान।'

'कुपात्र जीवा नै बचाविया, कुपात्र नै दिया दान॥'

पहली गाथा मे जिस अर्थ मे असजती—असयमी शब्द का प्रयोग किया है, उसी अर्थ मे इसकी अगली गाथा मे कुपात्र शब्द का प्रयोग किया है।

पुरानी परम्परा

प्रश्न—प्यासे को पानी पिलाने से महान् उपकार होता है। पानी का मूल स्रोत है—कूप, तालाब आदि। इसलिए साधु इनकी खुदाई का उपदेश दे या नही ?

उत्तर—साधु को ऐसा उपदेश देना ठीक नही और न इनका निषेध करना चाहिए। ये दोनो सदोष हैं, इसलिए निषिद्ध है। जैसाकि आचाराग के प्रथम श्रुत-स्कन्ध के छठे अध्ययन के पाचवे उद्देशक मे कहा है—मुनि प्राण, भूत,जीव, सत्त्वो की घात न करे। स्वत अनाशातक—हिंसा न करने वाला दूसरों से हिंसा न कराने वाला और हिंसा करते व्यक्ति का अनुमोदन न करने वाला मुनि जैसे प्राण, भूत, जीव, सत्त्वो को पीडा न उपजे, वैसा धर्म कहे।

जो व्यक्ति लौकिक, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ—शिथिलाचारी साधु के दान की प्रशसा करते हैं कुए और तालाब बनाने का समर्थन करते हैं तो इनमे पृथ्वी-कायिक आदि जीवो की हिंसा होती हैं और यदि इनका निषेध करते हैं तो दूसरो के अन्तराय होता है। वह भी बन्ध-विपाक का कारण है। जैसा कि कहा है—जो दान की प्रशसा करते हैं, वे प्राणियो के वध की इच्छा करते हैं और जो उसका प्रतिषेध करते हैं, वे वृत्तिच्छेद करते है। इसलिए मुनि को उक्त दान तथा कूप, तालाब आदि का विधि-प्रतिषेध किए बिना शुद्ध दान की प्ररूपणा करनी चाहिए।

मुनि को कूप, तालाब आदि खुदाने का न उपदेश देना चाहिए और न निषेध

करना चाहिए—इसका यह विचार है।

प्रश्न—साधु के सिवा अन्यदर्शनी को श्रावक भक्त आदि का दान देते हैं, तब श्रावक को सम्यक्त्व मे दोष लगता है या नही ? उन्हें दिया जाए तो अन्य-दर्शनी असाधु साधु के समान हो जाते हैं और अगर उन्हे न दिया जाए तो वह लोकविरुद्ध कार्य है और निर्दयता लगती है। इसलिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर—परमार्थ-दृष्टि मे अन्यदर्शनी को धर्म-बुद्धि से दान दिया जाए, तब सम्यक्त्व मे दोष लगता है। अनुकम्पा बुद्धि से दे, उसे कौन रोकने वाला है। जैसे— आवश्यक बृहद्वृत्ति के श्रावक-सम्यक्त्वाधिकार मे हरिभद्र सूरि ने कहा है—इसमे कौन-सा दोष है, जिससे मिथ्यादृष्टियो को अशनादि दान का प्रतिषेध है ? उनके भक्तो का मिथ्यात्व स्थिर होता है। उन्हे धर्म-बुद्धि से दे तो सम्यक्त्व मे दोष लगता है तथा आरम्भ आदि दोष बढते है। करुणा के क्षेत्र में आपद्ग्रस्तो को अनुकम्पापूर्वक देना चाहिए भी—इसलिए कहा है—'दुर्जय राग, द्वेष, मोह को जीतने वाले तीर्थकरो ने प्राणी की अनुकम्पा के लिए दिए जाने वाले दान का कही भी प्रतिषेध नही किया है।'

दीक्षा से पूर्व तीर्थंकर अनुकम्पापूर्वक वार्षिक दान देते हैं। षडावश्यक की वृत्ति मे 'सुहिएसु' इस गाथा की दूसरी व्याख्या मे ऐसे दान को उचित दान के रूप मे देय बतलाया है। अथवा सुखित यानी असयती, दु खित यानी पार्श्वस्थ—इन्हे रागद्वेषपूर्वक दान दिया हो, उसकी इस गाथा के द्वारा श्रावक निन्दा और गर्हा करता है न कि दीन आदि को जो अनुकम्पा-दान दिया जाता है, उसकी। 'कृपण, अनाथ, दरिद्र, कष्ट-ग्रस्त, रोगी, शोक-हृत व्यक्तियो को अनुकम्पा की बुद्धि से जो दिया जाता है, वह अनुकम्पा दान है।'[1] और कहा है—'यह जो पात्र और अपात्र की विचारणा है, वह मोक्षार्थ-दान यानी मोक्ष-फल वाले दान के लिए है। जो दया दान है, उसका सर्वज्ञो ने कही भी निषेध नही किया है।'[2]

धर्माधर्म के निर्णय की कसौटी विरति है, वेश नही

वेश या लिंग नितान्त व्यावहारिक है। वह धर्म-अधर्म, सयती-असयती का निर्णायक नही होता। केवल वेश को देखकर दान देना या न देना—यह भी कोई बडा तत्त्व नही है। अमुक वेश वाले को दान दिया जाए, अमुक को नही, ऐसा विधान

---

१ कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनव्याप्ते च रोगशोकहते।
तद्दीयते कृपार्थं, अनुकम्पातो भवेद्द दानम्॥

२ इय मोक्षफले दाने, पात्राऽपात्र विचारणा।
दयादान तु सर्वज्ञै, कुत्रापि न निषिध्यते॥
—समयसुन्दरोपाध्यायविरचित विशेषशतक।

सम्भवत कोई भी सम्प्रदाय नही करता। सयमी-दान मोक्ष-हेतुक है और असयमी-दान ससार-हेतुक। सयमी-दान परिग्रह की विरति है, इसलिए वह मोक्ष का हेतु है। असयमी-दान परिग्रह की विरति नही है, इसलिए वह ससार का हेतु है। यह वस्तु-स्थिति है। व्यवहार मे सयमी-असयमी दान का विवेक अपनी-अपनी मान्यता है। तत्त्ववेत्ता का कार्य उसका विश्लेषण करना है। व्यवहार चलाना उनका काम होता है जो व्यवहार मे रहते हैं। आचार्य भिक्षु ने यह कभी नही कहा कि अमुक को मत दो, उन्होंने सिर्फ दान और दाता का विश्लेषण करते हुए बताया—

पात्र-कुपात्र हर कोई ने देवै, तिणने कहीजे दातार।
पात्र-दान मुक्ति रो पावडियो, कुपात्र सू रुले ससार॥

इसका सार यही है कि दाता पात्र यानी सयमी और अपात्र यानी असयमी—दोनो को देता है। उसमे जो सयमी-दान है, वह मोक्ष का मार्ग है और असयमी-दान ससार का। दाता दान के समय परीक्षा करने नहीं बैठता। और न कही ऐसा देखने-सुनने मे भी आया है कि कोई भी व्यक्ति सयमी को ही दे, अन्य किसी को न दे। गृहस्थ-जीवन मे विरति-अविरति दोनो होते है। वह दोनो को एक रूप न समझ बैठे, यह विवेक ही बडी बात है। दान की कोटि का निर्णय न केवल दाता की भावना से होता है, न केवल ग्राहक की योग्यता से। उसकी कोटि का निर्णय दाता की भावना, ग्राहक की योग्यता और देय वस्तु की शुद्धि, इन तीनो पर निर्भर है। हमे देखना होगा, दाता की भावना परिग्रह-मुक्ति की है या उसके विनियोग की ? ग्राहक परिग्रह-मुक्त है या परिग्रह-युक्त। अपरिग्रही अममत्व भाव से साधन मात्र लेता है। वह अपरिग्रही है, इसलिए अपरिग्रहात्मक दान आत्म-शुद्धि का साधन बनता है। परिग्रही ग्राहक देय वस्तु को ममत्व बुद्धि से लेता है, इसलिए उस दान मे दाता परिग्रह का विनियोग कर देगा किन्तु उसकी (परिग्रह की) क्रिया से वह नही बचेगा। इस सूक्ष्म मीमासा की भूमिका मे पहुचकर हमे कहना होगा कि वह दान वस्तुवृत्या आत्म-मुक्ति का मार्ग नही है।

दान की कोटि का निर्णय करते समय हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि भविष्य के परिणामो से उसका तात्त्विक सम्बन्ध नही होता। ग्राहक आगे पुण्य या पाप, धर्म या अधर्म, जो कुछ करेगा, उस पर से दान का स्वरूप निश्चित नही होता। उसके स्वरूप-निश्चय में ग्राहक की वर्तमान अवस्था ही आधारभूत मानी जाती है।

दस प्रकार के दान

स्थानांग सूत्र मे दान के दस प्रकार बतलाए हैं·

१ अनुकम्पा-दान—गरीब, दीन-दुःखी को देना।

२. संग्रह-दान—कष्ट-दशा मे सहायता करने के लिए देना।

३ भय-दान—भयवश देना।

४ कारुणिक-दान—मृतक के पीछे देना।

५ लज्जा-दान—लाज-शर्मवश देना।

६ गौरव-दान—कीर्ति के लिए देना।

७ अधर्म-दान—वेश्या आदि को देना।

८. धर्म-दान—सयमी व्यक्ति को देना।

९ कृतिमिति-दान—अमुक ने सहयोग किया था, इसलिए उसे देना।

१० करिष्यति दान यह आगे सहयोग देगा इसलिए देना।

दान के ये दस प्रकार बताकर आगमकार ने केवल वस्तु-स्थिति का निरूपण किया है। कौन-सा दान अच्छा या बुरा है—इसका विश्लेषण इसमे नही है। इनका मूल्याकन समाजशास्त्र की दृष्टि से किया जाए तो 'अधर्म-दान बुरा है और शेष दान कभी अच्छे माने जाते रहे है और कभी बुरे भी। समाज की धारणा स्वय अस्थिर है, बदलती रहती है, तब इनका मूल्याकन स्थिर कैसे होगा?

अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि से धर्म-दान उपयोगी है। शेष उसके लिए उपयोगी नही है। उपयोगी नही—इसका अर्थ यह नही कि वेश्या-दान और कीर्ति-दान दोनो एक कोटि के है। तात्पर्य यह है कि आत्म-साधना से इनका कोई लगाव नही है।

इन दसो दानो को उपयोगिता की दृष्टि से बाटे तो धर्म दान आत्म साधना के लिए उपयोगी है। शेष मे से कुछ समाज के लिए उपयोगी हैं और कुछ उसके लिए भी अनुपयोगी है।

दान के स्वरूप मे मिश्रण नही हो सकता। एक ही दान मे सिद्धान्त की भाषा मे पुण्य और पाप व व्यवहार की भाषा मे सामाजिक उपयोगिता और आध्यात्मिक उपयोगिता—ये दोनो नही हो सकते।

धर्म-दान के तीन प्रकार हैं

१ ज्ञान-दान, २ अभय-दान, ३ सयमी दान। ये तीनो आत्म-साधना के अग है।

ज्ञान-दान—आत्म-साधना का सहायक ज्ञान देना, अहिंसक पद्धति से देना ज्ञान-दान है।

अभय-दान—मनसा-वाचा-कर्मणा छह काय के जीवो को मारने, मरवाने और मारने वाले को भला समझने का त्याग करना, प्राणीमात्र को भय

नही उपजाना अभय-दान है।[1]

सयमी-दान—अतिथि यानी सर्वहिंसा-त्यागी, पचन-पाचन-निवृत्त, भिक्षा-जीवी मुनि को शुद्ध और निर्जीव जीवन-निर्वाह के साधन देना सयमी-दान (अतिथि सविभाग) है।

दया और दान—ये दोनों अहिंसा से जुडे हुए हैं। इन्हे बड़ी बारीकी से देखना होगा। पुराने मूल्यो को नए दृष्टिकोण से देखना होगा। एक युग मे सामाजिक कर्तव्यो के पीछे पुण्य-पाप की प्रेरणा थी। इसलिए समाज के कर्तव्यो के साथ भी पुण्य-पाप का सम्बन्ध जुड गया। अब उस कल्पना मे प्रेरकता नहीं रही है। बर्तमान का बुद्धिवादी मनुष्य सामाजिक कर्तव्य का मूल्याकन उपयोगिता की दृष्टि से करता है।

दान की इतनी महिमा हुई, वह एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है। जैसा कि दादा धर्माधिकारी ने लिखा है—'हमारे यहा सब शास्त्रो मे इस विषय मे जो कहा है,उसका आशय है–'दरिद्रान् भर कौन्तेय!'—हे कौन्तेय! दरिद्रो का भरण कर। ईसाई धर्म मे कहा है—'अमीर को दान का मौका मिले, इसीलिए गरीबी का निर्माण किया है।' यह तो भगवान् पर वैषम्य और नैर्घृण्य का दोष लगाने जैसा है। दान को प्राचीन विद्वानो ने सग्रह का प्रायश्चित्त माना है। प्राचीन सस्कृति और धर्म इस मुकाम तक पहुचकर ठिठक गए। क्योकि वे सब विषमता पर आधारित थे। मार्क्स ही वह पहला व्यक्ति हुआ जिसने कहा—'गरीबी-अमीरी भगवान् ने नही बनाई। यह नैसर्गिक तो है किन्तु अपरिहार्य नही है। नियति या विधि-विधान नही है, यह परिहार्य है।'[2]

दान कोई सहज तत्त्व नही है। स्वय-भूत तत्त्व है—असग्रह। मुमुक्षु व्यक्ति कुछ भी सग्रह न करे। मुमुक्षु-वृत्ति का जागरण हो। उसकी मर्यादा है—अपनी आवश्यकताओ से अधिक सग्रह न करे। सग्रह करते रहना और दान देते रहना—इसका कोई अर्थ नही होता। वास्तविक दान असग्रह है। जैसा कि श्री मोहनलाल मेहता ने लिखा है—'सच्चा त्यागी वह है जो पैसा जोडकर त्याग नहीं करता अपितु पैसा छोडकर त्याग करता है। जोडकर छोडने की अपेक्षा पहले से ही न जोडना सच्चा त्याग है—वास्तविक दान है। जिसकी आपको आवश्यकता ही नहीं, उसका सग्रह क्यो करते है? इसीलिए न कि आप इस सग्रह के दान से दानी कहलाएगे। यह ठीक नहीं,इस प्रकार की आपकी मनोवृत्ति से समाज मे विषमता फैलती है।'

---

१ व्रतावत चौपई ६।१६

२ नई क्रान्ति, पृ० २४

'आप संग्रह का मूल्य समझते हैं, परिग्रह की कीमत आंक सकते हैं किन्तु आपकी दृष्टि मे त्याग का मूल्य नही है, अपरिग्रह की कीमत नही के बराबर है। आप कहेगे—जो धन का त्याग करता है, उसे दानवीर कहते तो है। और त्याग का मूल्य क्या होता है ? आपका यह उत्तर ठीक नही, क्योकि आप वास्तव मे परिग्रही को दानवीर कहते है, त्यागी को नही।'[1]

विनोबा के मतानुसार 'भूदान' आज का युग-धर्म है। यह होता है। समाज की समय-समय की आवश्यकता और उसी के अनुरूप माग होती है। समय के प्रवर्तक उसे सामयिक धर्म के रूप मे ही रखते है। किन्तु आगे चलकर वह रूढ हो जाती है, एक शाश्वत धर्म का रूप ले लेती है और उसमे विकार आ घुसते है। दान का रूप भी कम विकृत नही हुआ है। इसलिए दान पर आज हमे फिर एक बार नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

१. श्रमण, जनवरी, १९५३

तृतीय खण्ड

१

अहिंसा की कुछ अपेक्षाएँ

'अहिंसा पोथी की चीज है'—यह धारणा सौ मे नब्बे की है। कुछ अंशो में सही भी है। अहिंसा के बारे मे जितना लिखा गया, कहा गया, उपदेश दिया गया, उतना उसका आचरण नही हुआ। फिर भी अहिंसा जीवन मे उतरी है। मनुष्य का सामाजिक रूप अहिंसा की भावना का एक छोटा प्रतिबिम्ब है। अनाक्रमण और भाईचारे का बर्ताव अहिंसा नही तो क्या है? अगर मनुष्य हिंसा-परायण ही होता तो वह अपने को सामूहिक जीवन के ढाँचे में ढाल नही पाता।

मनुष्य का विवेक, विचारशीलता और बुद्धि का विकास देखते वह प्रश्न फिर आखो के सामने आता है कि मनुष्य मे अहिंसा की मात्रा कम है। उसे जितना अहिंसक होना चाहिए, उतना वह नही है। उसकी थोडी अहिंसा, अहिंसा जैसी लगती ही नही। हिंसक पशु भी भूख और भय से आक्रान्त न हो तो सहसा प्रहार नही करते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे अहिंसक हैं। बहुत सारे पशु-पक्षी सामुदायिक जीवन भी बिताते हैं। हिंसक पशु सामूहिक जीवन बिताने में रस नही लेते, फिर भी उनमे आपसी आक्रमण प्राय नहीं होता। यही कारण है कि सामान्य स्थिति मे अनाक्रमण, भाईचारा और सामूहिक जीवन-यापन से अहिंसा के परिणाम नही बनते, दूसरे शब्दो मे इनसे उनकी उद्‌बुद्ध अहिंसा का परिचय नही मिलता।

आक्रमण को अनाक्रमण से जीते, यह अहिंसा का जागृत स्वरूप है, जिसकी मनुष्य जैसे बुद्धिमान् प्राणी से ही अपेक्षा की जा सकती है। पशु कार्य कर सकता है, उसका परिणाम नही सोच सकता। मनुष्य अतीत से शिक्षा ले सकता है और भविष्य की कल्पना कर सकता है। उसका कार्य इन दो शृंखलाओं से जुडा हुआ होता है। मनुष्य कार्य करते-करते लाभ-अलाभ, हित-अहित और इष्ट-अनिष्ट की चिन्ताओ से घिरा रहता है। इस स्थिति मे यह प्रश्न होता है कि क्या अभी तक मनुष्य अहिंसा का मूल्य आंक नहीं सका है अथवा उसे समझकर भी उसका आचरण करने में असमर्थ है? दूसरी बात मे हमारा मानसिक समाधान मिलता है।

अहिंसा को समझ लेना ही काफी नही है। अहिंसक बनने के लिए उसके योग्य सामर्थ्य का विकास करना आवश्यक है। पडित और साधक—ये दो चीजें हैं। जानना पडिताई का काम हो सकता है किन्तु करने मे साधना चाहिए।

पशु और पडित मे जितना भेद है, उतना ही भेद पडित और साधक में है। पशु अहिंसा की भाषा नही जानता जबकि पडित जानता है। साधक वह है जो उसकी भाषा जानने तक ही न रहे, उसकी साधना करे।

अब हम पशुओ की बात छोड दें, अपनी बात करें। जहा तक देखा जाता है, हममे अहिंसा के पडित अधिक हैं, साधक कम, इसीलिए अहिंसा का विकास कम हुआ है। मनुष्य ज्ञान के क्षेत्र मे अन्य प्राणियो से आगे है। उसकी बढ़ी-चढी तर्कणा शक्ति ने उसे अधिक स्वार्थी बनने मे सहयोग दिया है। उसके पास ऐसे तर्क हैं, जिनके द्वारा वह अपने लिए होने वाली दूसरो की हिंसा को क्षम्य ही नही, निर्दोष बता सकता है। आखिर यह होता है कि अहिंसा आत्मा तक बिना पहुचे ही शब्दो के जाल मे उलझ जाती है।

हिंसा जीवन की कमजोरी है—अशक्यता है किन्तु स्वभाव नही। इसीलिए हिंसा मिटाई जा सकती है और मिटाई जानी चाहिए। प्रयत्न की जरूरत है। कमजोरियो से छुट्टी पाए बिना हिंसा छूट नहीं सकती, इसीलिए हमे इस विषय पर सोचना चाहिए कि जीवन मे अहिंसा का प्रयोग कैसे किया जाए।

हिंसा और अहिंसा के परिणामो को जानने से हिंसा के प्रति ग्लानि और अहिंसा के प्रति रुचि पैदा हो सकती है, इसलिए आचार्यों ने हमे उनकी परिभाषाए दी। वे समझने की चीजें हैं। उनसे हमारा कुछ बनता-बिगडता नही। बनने-बिगडने की बात हमारे कार्यों से पैदा होती है। हमारी हिंसा और अहिंसा का सम्बन्ध हमारे कार्यों से है। उनके पीछे भय, स्वार्थ, अह, क्रोध, आग्रह, छल-कपट आदि अनेक भावनाए होती हैं। उन्ही के कारण वृत्तिया कलुषित बनती हैं, हिंसा का वेग बढ़ जाता है। जीवन मे अहिंसा लानी है तो हमे दो काम करने होंगे—एक तो भावनाओ को पवित्र करना होगा और दूसरे कार्यों को बदलना होगा। उनको कैसे बदले ? भावनाओ को पवित्र कैसे बनाए ? इस पर कुछ विचार करना है।

अहिंसा का मानदण्ड निजी जीवन नही होता, साधना के उत्कर्ष-काल में हो सकता है। यह बात प्रारम्भिक दशा की है। मनुष्य दूसरो की हिंसा को जितनी स्पष्टता के समझ सकता है, उतनी स्पष्टता से अपनी हिंसा को नहीं समझ सकता। अपनी भूलो के पीछे कोई न कोई तर्क या युक्ति लगी रहती है। वह अपनी भूलो को ज्यों-त्यों सही करने की चेष्टा मे लगा रहता है, दूसरे की भूल

साफ-साफ समझने मे आती है। वहां सफाई सामने नही आती। कोई सफाई लगाए तो वह बुरी मालूम होती है। कारण साफ है। दूसरे की बुराई को समझने में कठिनाई इसलिए नही होती कि उसके प्रति हमारी आंखें मोह से ढंकी हुई नहीं हैं, बीच मे कोई आवरण नही है। भावनाओ मे भी न्याय है। हम स्वय को या अपनो को इसलिए ठीक नही कूत सकने कि हममे अपने प्रति अब भी मोह और अन्याय करने की भावना वर्तमान है।

१ अहिंसा का पहला प्रयोग यही होना चाहिए—हम स्व-पर की भूमिका से ऊपर उठें। अहिंसा के विकास मे सबसे बडी बाधा अगर कोई है तो यह स्व और पर का भेद है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से लडता है। लडने का कारण है—उसके लडके की दूसरे आदमी के लडके के साथ कहा-सुनी हो गई। दोषी दोनो है, फिर भी वह पक्ष अपने पुत्र का लेगा, कारण कि वह उसका है। दूसरा, दूसरा है। उससे क्या मतलब ? व्यवहार मे ये बाते चलती हैं। ऐसी छोटी-छोटी बातो पर बडी-बडी लडाइया छिड जाती है। किन्तु अहिंसा इन्हें नही सह सकती। अहिंसा के सामने स्व-पर जैसी कोई चीज ही नही होती। वहा यह भावना ही नही होती कि यह मेरा है, इसलिए इसके दोष को छिपाऊ, दोषो का प्रतिकार न करू। अहिंसक अपने दोषो को छिपाने की बात भी नही जानता। वह साफ होता है, उतना साफ जितना कि स्फटिक। हिंसक व्यक्ति भूलो को छिपाकर रखने मे जहां गौरव मानते हैं, वहा अहिंसक भूलो को दूसरे के सामने रखकर अपने को हलका अनुभव करते हैं। इसके पीछे आत्म-बल होना चाहिए। अहिंसा के लिए शरीर-बल से कहीं अधिक आत्म-बल की अपेक्षा है। मानसिक कमजोरी आयी, छिपाने-दबाने की बात आयी कि अहिंसा नौ-दो-ग्यारह हो जाती है। छिपाने का अर्थ है—वक्रता, उसका मतलब है—हिंसा।

आत्म-बल स्वय साधना का फल है। यह अहिंसा की रुचि से बढ़ता है। उससे अहिंसा का विकास होता है।

२ अहिंसक के सामने आगे बढने का एक पवित्र लक्ष्य होना चाहिए। उसके बिना वह आत्म बल बटोर नही सकता। अहिंसक सरलता से बोलता है, सरलता से चलता है और सरलता से करता है। सरलता के सामने कुटिलता का पर्दाफाश होता है, इसलिए हिंसा का अहिंसा पर प्रहार होने लगता है। वह प्रहार अनेकमुखी होता है—कभी व्यक्तियो द्वारा, कभी परिस्थितियो द्वारा, तो कभी-कभी उसकी अपनी निजी प्रवृत्तियो द्वारा भी, कभी प्रतिकूल तो कभी मनो-नुकूल। इस हालत में अगर एक निश्चित लक्ष्य न हो तो साधक फिसले बिना नही रह सकता।

आत्म-विकास का लक्ष्य लेकर चलने वाला कही कष्ट पाए, गालियां सुने, मारा-पीटा जाए, फिर भी कतराता नहीं। वह सोचता है कि स्व-प्रशसा और पूजा से मैं ऊंचा नही उठा तो इनसे नीचा भी नहीं होऊगा। ये दोनों पौद्गलिक जगत् के परिणाम हैं। मुझे आत्म-जगत् में आना है। सुखी रहूं चाहे दुःखी, प्रशंसा सुनूं चाहे निन्दा, पूजा जाऊ चाहे पीटा जाऊ, इनसे होना जाना क्या है? मेरा लक्ष्य मिलेगा—मेरी समता से। वह बनी रहनी चाहिए। अनुकूलता मे राग या उत्कर्ष,प्रतिकूलता मे द्वेष या अपकर्ष नहीं होना चाहिए। यही आत्मबल है। विश्व-विजेता मल्ल या योद्धा अपनी निन्दा सुनकर दुमना हो जाता है किन्तु अहिंसक नही होता। योद्धा का लक्ष्य साधक के लक्ष्य से भिन्न है। सोचने की दृष्टि भी एक नहीं है। योद्धा सोचेगा, निन्दक ने मेरा अनिष्ट किया। साधक सोचेगा, मेरा अनिष्ट करने वाला कोई है ही नहीं। निन्दक अपने आप अपना अनिष्ट कर रहा है। यह अन्तर है लक्ष्य का। निन्दा के द्वारा योद्धा के लक्ष्य मे बाधा आ सकती है किन्तु साधक के लक्ष्य मे कोई बाधा नहीं आ सकती, इसलिए वह निन्दाकाल मे भी समदृष्टि रह सकता है।

३ लक्ष्य की निश्चितता से जैसे आत्म-बल बढ़ता है, वैसे निर्भयता भी बढ़ती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। भय से कायरता आती है। कायरता से मानसिक कमजोरी और उससे हिंसा की वृत्ति बढ़ती है। अहिंसा के मार्ग मे सिर्फ अँधेरे का डर ही बाधक नही बनता, और भी बनते हैं। मौत का डर, कष्ट का डर, अनिष्ट का डर, अलाभ का डर, जाने-अनजाने अनेक डर सताने लग जाते है, तब अहिंसा से डिगने का रास्ता बनता है। पर निश्चित लक्ष्य वाला व्यक्ति नही डिगता। वह जानता है—ऐश्वर्य जाए तो चला जाए, मैं उसके पीछे नही हू। वह सहज भाव से मेरे पीछे चला आ रहा है। यही बात मौत के लिए तथा औरो के लिए है। मैं सच बोलूगा। अपने प्रति व औरो के प्रति भी सच रहूगा। फिर चाहे कुछ भी क्यो न सहना पड़े! अहिंसक को धमकिया और बन्दर-घुडकियाँ भी सहनी पडती हैं। वह अपनी जागृत वृत्ति के द्वारा चलता है, इसलिए नही घबराता। इन सब बातों से भी एक बात और बडी है। वह है—कल्पना का भय। जब-तब यह भावना बन जाती है—अगर मैं यो चलूगा तो अकेला रह जाऊगा, कोई भी मेरा साथ नही देगा, यह अहिंसा के मार्ग मे कांटा है। अहिंसक को अकेलेपन का डर नही होना चाहिए। उसका लक्ष्य सही है, इसलिए वह चलता चले। आखिर एक दिन दुनिया उसे अवश्य समझेगी। महात्मा ईसा का जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य भिक्षु भी इसी कोटि के महापुरुष थे। दूसरो के आक्षेप, असहयोग आदि की उपेक्षा कर निर्भीकता से चलने वाला ही अहिंसा के पथ पर आगे बढ़ सकता है।

पिछली पंक्तियों मे जो थोड़ा-सा विचार किया गया, उसका फलित यह होगा—जो व्यक्ति स्व-पर के भेदभाव मे ऊंचा उठा हुआ है, जिसके सामने पवित्र लक्ष्य है, जिसका आत्म-बल विकसित है और जो निर्भय है, वही अहिंसक बन सकता है। यह अहिंसा की भूमि है। अब तक उसी की चर्चा हुई है। अहिंसा की कसौटी क्या है? अहिंसा का तेज कहां निखरता है? इस पर भी कुछ ध्यान दे लें।

एकान्तवास में आदमी अहिंसक बन सकता है किन्तु अहिंसा की परख वहां नहीं हो सकती। इसका क्षेत्र है—सहवास। सबके साथ रहकर या सबके बीच रहकर जो अहिंसक रहता है, वहा उसकी परख होती है।

एक साथी क्रोधी है, दूसरा अभिमानी है, तीसरा मायावी है और चौथा लोभी है—उनके साथ कैसे बरता जाए?

(क) साथी बात-बात मे गुस्सा करता है, अट-सट बोलता है, बकवास करने मे भी नहीं चूकता, समय पर गालियां भी सुना देता है। 'शठे शाठ्य समाचरेत्'—इसका मतलब है—हिंसा। सामने के व्यक्ति को अहिंसक रहना है और साथी को भी साथ लिए चलना है। अगर वह शान्त भाव से सब कुछ सहता चला जाता है तो लोग उसे कायर बताते हैं। अब वह क्या करे?

अहिंसक मे चैतन्य होना चाहिए। निर्जीव अहिंसा दीनता का ही दूसरा रूप है। अहिंसक क्रोधी के आवेग को सहे,अवश्य किन्तु दीन बनकर नहीं। क्रोधी को यह भान होते रहना चाहिए कि अहिंसक मे प्रतिकार करने की शक्ति है, फिर भी वह अपने धर्म की रक्षा के लिए सब कुछ सहता है। क्रोधी एकपक्षीय क्रोध आखिर कब तक करेगा? उसे क्रोध करने का पूरा अवसर मिलता है तो निश्चित समझिए उसका क्रोध खतरे मे है। क्रोध क्रोध से बढता है। क्रोध के बदले क्षमा मिलती है, तब वह स्वय पछतावे मे बदल जाता है। यो चलते-चलते क्रोध स्वयं निस्तेज हो जाता है और क्षमा उस पर विजय पा लेती है।

(ख) साथी अभिमानी है, वह चाहता है—पूजा, प्रशसा और गुणानुवाद। अहिंसक को यह न रुचे। वह उसका उत्कर्ष न साध सके, तब सघर्ष होता है। उसकी आत्म-सन्तुष्टि अथवा सघर्ष को टालने के लिए क्या अहिंसक चलती बातें करे? अगर न करे तो उसका परिणाम होता है—आपसी अनबन। इस स्थिति मे वह कौन-सा मार्ग चुने? पहला या दूसरा?

प्रत्येक व्यक्ति में न्यूनाधिक मात्रा में विशेषताएं होती हैं। अहिंसक उन्हें सामने रखकर चले। नि सकोचतया उन्हें प्रकाश मे लाए। ईर्ष्या न करे। एक विशेषता बताकर आदमी दस कमियां बताए तो वे अखरती नहीं, पर कभी-कभी अखर भी जाती हैं। केवल भूलें ही भूलें सामने रखी जाएं तो सुनने वाला

उकता जाता है या पहल मे ही चिढ़ जाता है। सामान्यतया अपनी प्रशंसा सुनने में हरेक व्यक्ति को दिलचस्पी होती है। हम उसकी विशेषता बताएंगे तो वह जरूर हमारे प्रति आकृष्ट होगा। आकर्षण से अपनत्व होता है। अपनत्व के नाते आदमी कड़वी घूट भी पी सकता है। रोगी को पहले विश्वास होना चाहिए कि इस दवा से मुझे लाभ होगा, तभी उसे कटुक या कुटज पिलाया जा सकता है। अहिंसक को सबके दिलो मे विश्वास पैदा करना चाहिए। विश्वास के द्वारा जब दूसरो के दिलो को वह जीत लेता है, तब उसकी कठिनाई मिटती तो नही, किन्तु हा, कम जरूर हो जाती है।

मूल बात यह है कि अहिंसक ललचाये नहीं। वह दूसरे को प्रसन्न रखने की चेष्टा करे किन्तु इसलिए नही कि उसके द्वारा उसे लाभ मिले या स्वार्थ सधता रहे। यह हिंसा की भावना है, आत्मा की कमज़ोरी है।

अहिंसक अपनी मर्यादा तोड़कर किसी को प्रसन्न रखने की बात नही सोच सकता। प्रसन्नता का अधिक से अधिक अर्थ तो यह हो कि आपसी सद्भावना या गुणानुराग या गुणोत्कीर्तन से दूसरे को अपनी ओर खींचना। खींचने का मतलब बाँधने की बुद्धि नही, केवल भाईचारा बढ़ाने की भावना है।

यह तो कभी नहीं हो सकता कि अहिंसक थोथी बडाई के पुल बाधकर किसी को टिकाए। यह दोष आत्म-श्लाघा से कम नही है। इस प्रवृत्ति से केवल अहिंसक ही टोटे मे नहीं रहता, सामने वाले व्यक्ति को भी बडा धक्का लगता है, उस समय वह समझे या न समझे। झूठी प्रशसा से उसके अभिमान का पारा और बढ जाता है। उसका उत्कर्ष उसे फिर वहा ले जाता है जहा कि उसे नही जाना चाहिए अथवा वहा जाने का अर्थ होता है उसका पतन। झूठी प्रशसा आदमी को आगे नही ले जाती। यह वेश्या है, जो एक बार ललचाकर सदा के लिए गिरा देती है।

जहां तक सम्भव हो, अहिंसक आपसी अनबन टालने की चेष्टा करे किन्तु उसका मूल्य ज्यो-त्यो किसी को रिझाना ही हो तो उसके लिए वह बाध्य नही हो सकता। वह स्वय अनबन के रास्ते पर न जाए। दूसरा कोई जाए तो उसकी जिम्मेदारी अहिंसक नही ले सकता।

अहिंसक को नम्र होना चाहिए किन्तु दूसरो की बुराइयो को प्रोत्साहन देने के लिए नहीं। दूसरे के गुणों के प्रति और अपनी वृत्ति के प्रति जो नम्रता होती है, उसी का नाम नम्रता है। बुराई के सामने झुकना नम्रता नही है। लालची वृत्ति से झुकना भी नम्रता नही है।

अहिंसक बुराई के साथ कभी भी समझौता नहीं कर सकता, इसलिए उसे

जितना नम्र होना चाहिए उतना कठोर भी। 'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि'—यह बात अहिंसक के लिए सोलह आने सही है। कठोर किसी व्यक्ति के प्रति नहीं, अपनी वृत्तियों के प्रति होना चाहिए ताकि बुराई से समझौता न करने के कारण पैदा होने वाली कठिनाइयों का दृढ़ता से सामना कर सके।

(ग) साथी मायावी है। वह छल से चलता है। कहता कुछ है और करता कुछ है। मन मे कुछ है और बाहर से कुछ ही दिखाता है। इस हालत में अहिंसक उसके साथ कैसे चले ?

अहिंसक का दिल साफ होना चाहिए। चलते-चलते पैंतरा बदलना उसके लिए उचित नही। माया वह करता है, जो अन्दर की कमजोरियों के बावजूद भी अपने को बहुत बडा व्यक्ति सिद्ध करना चाहता है। अहिंसक में बडा बनने की भूख नही होनी चाहिए। फिर वह माया क्यो करे ? वह हर काम सचाई के साथ करे। जो बात दिल मे आए, वह साफ-साफ कह दे। कहने का अवसर न हो तो मौन रख ले किन्तु दिल मे कुछ और कहे कुछ, ऐसा कभी न करे। किसी को झूठा विश्वास दिलाना बहुत बड़ी हिंसा है। अहिंसक को चाहिए कि वह अपनी कमजोरियो को छिपाए नही। दूसरो को धोखे मे रखना बडी भूल है।

मायावी की चालो को समझना जरूर चाहिए। चालाकी को समझना हिंसा नही है। हिंसा है चालाकी करना।

अहिंसक मे फलाशा नही होनी चाहिए। एक के बदले दस पाने की लालसा नही होनी चाहिए। इससे माया की वृत्ति बढती है। सरलता से बरतने वाला दूसरो को भी सरल बना देता है। सम्भव है कोई न भी बने, फिर भी अहिंसक के लिए तो सरलता के सिवा दूसरा विकल्प ही नही है।

(घ) साथी लोभी है। वह हर काम लालच से करता है, स्वार्थ को आगे किए चलता है। अपनी चीजो पर ममत्व है। उनकी चिन्ता करता है। दूसरो की वस्तुओ का प्रयोग करता है। अच्छी चीजो पर टूट पडता है। उसकी चीजो का दूसरा कोई उपयोग करे तो बिगड जाता है। खान-पान की भी आसक्ति है। अहिंसक को उसे कैसे पाना चाहिए ?

अहिंसक की भूमिका परमार्थ की होती है। वह परमार्थ को आगे कर स्वार्थ से लडे। वह सोचे—ये पौद्गलिक वस्तुए बिगडने वाली हैं, नष्ट होने वाली हैं, उपयोग होगा तो भी बिगडेंगी, उपयोग नही होगा तो भी बिगडेंगी। तब फिर आसक्ति क्यो ? यो सोचकर उनकी चिन्ता से मुक्त बने, अभ्यास करे। असम्भव दीखने वाली बात भी अभ्यास से सम्भव बन जाती है। किसी ने अपनी वस्तु का उपयोग कर लिया तो कर लिया, इसमे बिगडा क्या ? इस तुच्छ बात को लेकर

स्वय बिगड़ जाए, यह कितना बुरा है। ऐसी स्थिति मे वही व्यक्ति आपे से बाहर होता है, जो आसक्त होता है। अहिंसक का पहला लक्षण है—अनासक्ति। वह सयम के लिए और सयमपूर्वक खाए, पीए, पहने और जीए।

अच्छा खान-पान, अच्छा रहन-सहन, अच्छा वस्त्र सहज मिले तो न ले; यह कोई बात नहीं किन्तु उनके लिए मारा मारा न फिरे। उनकी फिक्र में न रहे। परिस्थिति बदलने पर सहज मिलने वाली चीजें भी त्याग दे। अगर आसक्ति के भाव बढने की सम्भावना हो, उसको समाज अच्छा न समझे, दूसरोंको वह असह्य हो उठे, समाज मे असन्तोष की मात्रा बढती हो, सबको या बहुतो को वे चीजे सुलभ न हो, ऐसी स्थिति मे अहिंसक को अपनी अनासक्ति का भाव अधिक जगाना चाहिए, त्याग का विशेष परिचय देना चाहिए। ऐसा करके वह साथी को ममत्व के जाल से बाहर निकाल सकता है।

अहिंसक को यह सोचकर नही रह जाना चाहिए कि दूसरे ईर्ष्या करते है, मैं उनकी ओर क्यो ध्यान दू? ठीक है, ईर्ष्या बुरी है। अनधिकारी किसी दूसरे की विशेषता पर सोचे, वह ईर्ष्या हो सकती है किन्तु अपने वर्ग मे असामजस्य न आए, भेदभाव न बढे, इस दृष्टि से सोचना ईर्ष्या नही है। दूसरे की स्थिति को ठीक आंकना चाहिए।

लालची के साथ लालची जैसा बर्ताव करने पर स्थिति बिगडती है। लालची के साथ सन्तोष—परितृप्ति बरतने से उसकी अतृप्ति अपने आप सिकुड जाती है। हवा को रोकिए, उसका वेग बढेगा, शक्ति बढ़ेगी। उसे खुले स्थान मे छोड दीजिए, वह अपने आप बिखर जाएगी। यही बात बिगडे लालच की है। लालची स्वय समझकर उसका वेग रोके तो रुक सकता है। अगर कोई दूसरा व्यक्ति उसके वेग को बलात् रोकना चाहे तो वह रुकने के बजाय उभर जाता है अथवा दूसरी बुराई के रूप मे बदल जाता है। इस जगह अहिंसक को आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति से काम लेना चाहिए। एलोपैथिक पद्धति उसके लिए उपयोगी नहीं है। वह रोग को तेज दवा से दबाती है। उसका परिणाम अच्छा नही होता। एक बार रोग दब जाता है। शान्ति मिलती है पर दबा हुआ रोग दूसरे भयकर रोग के रूप मे सामने आता है। आयुर्वेदीय दवा रोगी को एकाएक शान्ति नहीं पहुचाती, धीरे-धीरे उसके रोग की जड काटती है। अहिंसक भी एकाएक किसी को दबाता नही। उसकी सन्तोषपूर्ण प्रवृत्तिया धीमे-धीमे लालच को उखाड फेंकती हैं।

अन्याय का प्रतिकार

सहवास में एक ओर जहाँ आपसी वैयक्तिक झमेले उठते हैं, वहाँ दूसरी ओर अनधिकार चेष्टा तथा अन्याय के थोपे जाने का खतरा रहता है। ऐसी स्थिति में अहिंसक को चुप्पी साधनी चाहिए या प्रतिकार करना चाहिए।

अहिंसक के लिए मौन अच्छा साधन है। मौन साधने पर भी अन्याय नहीं टल सके तो उसके लिए एकमात्र प्रतिकार का रास्ता बाकी रहता है। हिंसात्मक प्रतिकार उसके लिए है नही। अहिंसात्मक तरीको से वह चले। कष्ट आए उन्हें झेले, उनके सामने घुटने न टेके, झुके नही। अन्याय को प्रोत्साहन देने वाले तत्त्वो से सहयोग न करे। नम्रता को भी न छोडे। तिरस्कार, उद्दण्डता, अवज्ञा—ये सब हिंसा हैं। अहिंसक किसी भी हालत में इन्हें नहीं चुन सकता। अहिंसा में दब्बूपन भी नही है, यह ध्यान रहे।

अहिंसक झझटो मे क्यों फसे, क्यो बोले, सब कुछ सहना ही उसका धर्म है—यह समझना भारी भूल है। क्षमा का अर्थ है—अपनी वृत्तियाँ उत्तेजित न हो। अन्याय मे सहयोगी बने, यह क्षमा नही, कमजोरी है। क्षमा को वीरो का भूषण कहा गया है। वह कायरता का आवरण नहीं होना चाहिए।

अहिंसक के लिए अन्याय का प्रतिकार करने की बात दूसरी है। पहली बात है—वह स्वयं किसी के प्रति अन्याय न करे। जो दूसरो के प्रति अन्याय न करे, उसे ही अन्याय का प्रतिकार करने का हक है। इसलिए अहिंसक को चाहिए कि वह अपनी वृत्तियो को पूर्ण सयत करे। अन्याय का मतलब है—असयम। असयम व्यक्ति मे रहे, वह भी बुरा है। अपना असयम दूसरो पर प्रभाव डाले, यह तो और अधिक बुरा है। अहिंसा का मूल मन्त्र है—सयम। भगवान् महावीर ने कहा है—"अहिंसक वह है जो हाथो का सयम करे, पैरो का सयम करे, वाणी का सयम करे और इन्द्रियो का सयम करे।"[1]

सयम ही अहिंसा है। वह आत्म-निष्ठा से फलित होती है, इसीलिए उसका सिद्धान्त अध्यात्मवाद कहलाता है।

अध्यात्म के विचार-बिन्दु

१ आकांक्षा का अभाव अध्यात्म है।

२ विकार का अभाव अध्यात्म है।

३. चारित्रिक कर्मण्यता अध्यात्म है।

४ अकर्मण्यता अलसता नही किन्तु निवृत्ति है। वह अध्यात्म है। एक

१ दशवैकालिक १०।१५

शब्द मे आत्मा का सहज रूप अध्यात्म है।

५ अध्यात्म का चरम या परम रूप है—अकर्मण्यता यानी दूसरे पदार्थ के सहयोग का अस्वीकार—सर्वथा आत्म-निर्भरता यह मुक्त-स्थिति है। जीवन-काल मे—कर्मण्यता मे अकर्मण्यता का जो अश है,वह अध्यात्म है अथवा कर्मण्यता मे असत कर्मण्यता का जो अभाव है, वह अध्यात्म है।

६ अध्यात्मवाद से आकांक्षा की तृप्ति नही, उसका अभाव हो सकता है।

७ अध्यात्मवाद से आवश्यकता की पूर्ति नही, उसकी पूर्ति के साधनो का विकार मिट सकता है।

८ अध्यात्म से पदार्थ की प्राप्ति नहीं, प्राप्त पदार्थ पर होने वाला ममकार या बन्धन छूट सकता है।

९ भौतिक प्राप्ति के लिए भौतिक साधन अपेक्षित होते हैं और आत्म-प्राप्ति के लिए आत्मिक साधन।

१० भौतिकता से दूर रहने के लिए आत्मिक साधन उपयोगी हैं।

११ भौतिकता को सीमित करने के लिए आत्मिक साधन चाहिए।

१२ भौतिक जीवन का स्तर ऊंचा होगा, आवश्यकताए बढ़ेंगी, शान्ति कम होगी।

१३ आध्यात्मिक जीवन उठेगा, आवश्यकताए कम होगी, शान्ति बढ़ेगी।

१४ पदार्थ के अभाव मे अशान्ति और भाव मे शान्ति, ऐसी व्याप्ति नहीं बनती।

१५ मानसिक नियन्त्रण से मानसिक साम्य होता है और वही शान्ति है। मानसिक अनियन्त्रण से मानसिक वैषम्य बढता है, वही अशान्ति है।

१६. जहा आकांक्षा है, वहा अशान्ति है और जहा आकाक्षा नहीं, वहा शान्ति है।

१७ आवश्यकता है, वहा श्रम होगा, अशान्ति नही।

१८ आवश्यकता की पूर्ति सम्भव है, आकाक्षा की पूर्ति असम्भव।

१९ शोषण का मूल जीवन की आवश्यकताए नहीं, मानसिक अतृप्ति है।

२० अहिंसा का आधार कायरता नही, अभय, समता और सयम है।

२१ अपरिग्रही वह नही, जो दरिद्र है। अपरिग्रही वह है, जो त्यागी है।

२२ भोग समाज की सघातक या सघटक शक्ति है और त्याग विघातक या विघटक शक्ति।

२३ भोग समाज की अपेक्षा है और त्याग उसकी अति का नियन्त्रण।

२४ भोग आत्मा का विकार है और त्याग आत्मा का स्वरूप।

२५ असंयम में बाह्य नियन्त्रण रहता है, इसलिए असंयमी दूसरों के सामने अन्याय करने में झिझकता है।

२६ सयम में अपना नियन्त्रण होता है, इसलिए संयमी एकान्त में भी अन्याय नही करता।

२७ मर्यादाहीन जीवन कहीं भी मान्य नहीं होता। स्व-मर्यादा नहीं होती, वहां दूसरे मर्यादा करते हैं। अध्यात्मवाद स्वय मर्यादा है। हीन भावना न आए, इसलिए अध्यात्मवादी मानता है—मैं स्वय परमात्मा हू।

२८ गर्व न आए, इसलिए अध्यात्मवादी मानता है—सब जीव समान हैं, सब जीव एक हैं।

२९ परमात्मा बनने के लिए और मिथ्याभिमान से बचने के लिए अध्यात्मवाद का सूत्र है—सयम की साधना।

३० अध्यात्मवादी वह होता है, जो दूसरो से न डरे, न दूसरों को डराए, न स्वय दूसरे को ऊच-नीच समझे और न दूसरो से स्वय को ऊच-नीच समझे, सबके प्रति समभाव बरते।

निष्क्रिय अहिंसा का उपयोग

कई व्यक्ति निषेधात्मक अहिंसा को निठल्लो का हथियार बताते है। प्रवृत्ति-शून्य जीवन उन्हे रुचता नही। सब कुछ करते हुए अहिंसा का पालन करना, यही उनके सिद्धान्त का सार है। यह सिद्धान्त न एकान्तत सारहीन है और न एकान्तत सारयुक्त। देह-दशा मे पूर्ण निष्क्रियता हो नही सकती, यह वस्तुस्थिति है। किन्तु इससे प्रवृत्ति मात्र मे अहिंसात्मकता नही आती। असयमाश मिट जाता है, वही प्रवृत्ति अहिंसात्मक होती है। इसलिए प्रवृत्ति को शुद्ध करने के लिए निवृत्ति आवश्यक है। दया का भाव आता है, तब हिंसा की निवृत्ति होती है। हिंसा की निवृत्ति होती हैं, तब दया का विकास होता है। मुनि पूर्ण दयालु होता है, इसलिए वह सभी जीवो का त्रायी—पूर्ण अहिंसक होता है। गृहस्थ की सयमता अधूरी होती है। वह सब प्रवृत्तियो के असयमाशो को छोडने में क्षम नही होता, इसलिए वह पूर्ण दयालु नही होता। पूर्ण दयालु नही होता, इसलिए वह पूर्ण अहिंसक नहीं होता।

युद्ध की प्रवृत्ति हिंसा है किन्तु उसमें भी निरपराध को न मारने, निहत्थो पर प्रहार न करने की वृत्ति जो हो, वह अहिंसा है। व्यापार करना अहिंसा नही किन्तु व्यापार करने में झूठा तोल-माप व शोषण न करने और न ठगने की वृत्ति अहिंसा है। सिद्धान्त की भाषा में यों कहा जा सकता है कि राग द्वेष से जितना

बचाव किया जाए, वही अहिंसा है। राग-द्वेष प्रवृत्ति है और उनसे बचाव करना निवृत्ति[1]। निवृत्ति का अर्थ केवल प्रवृत्ति का निषेध ही नहीं किन्तु प्रवृत्ति के रागांश या द्वेषांश का वर्जन भी है—इसीलिए निवृत्त्यात्मक अहिंसा को निठल्लों का हथियार नहीं कहा जा सकता। सक्रिय अहिंसा जीवन की कुछ-एक घड़ियों में होती है। निष्क्रिय अहिंसा का उपयोग जीवन के प्रत्येक क्षण मे किया जा सकता है, किन्तु उसका उपयोग वही कर सकता है, जो सच्चा वीर हो। प्रवृत्ति की अपेक्षा सत्प्रवृत्ति दुष्कर है, वैसे ही सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति दुष्कर है।

अहिंसा का समग्र रूप

'धर्म पवित्र आत्मा मे ठहरता है।'[2] अहिंसा धर्म है। व्यवहार की भाषा मे वह पवित्र आत्मा मे उद्भूत होती है। निश्चय की भाषा मे आत्मा की स्वाभाविक स्थिति ही पवित्रता है और वही अहिंसा है। स्वाभाविकता का चरम रूप विदेह-दशा मे प्रकट होता है। यह सिद्ध-दशा है। साधना-काल मे स्वभावोन्मुख प्रवृत्ति होती है, वह अहिंसा है। उसका दूसरा नाम है—मोक्ष-मार्ग। मोक्ष के चार साधन हैं

१ ज्ञान,

२ दर्शन (श्रद्धा),

३ चारित्र,

४ तप।

पदार्थों की जानकारी मात्र से न बन्धन होता है और न मुक्ति। ज्ञान सत्य का हो चाहे असत्य का, वह स्वभावतया निरवद्य होता है। मन, वाणी और कर्म के साथ संयुक्त होकर वह क्रियात्मक दृष्टि से सावद्य और निरवद्य दोनो बनता है। मोहरंजित मन, वाणी और कर्म का सहवर्ती ज्ञान सावद्य होता है और मोह-विमुक्त मन, वाणी और कर्म का सहवर्ती ज्ञान निरवद्य। वह क्रियात्मक निरवद्य ज्ञान आत्म-मुक्ति का साधन बनता है। अध्यात्मशास्त्र मे इसी को सम्यग् ज्ञान कहा जाता है। सत्य की रुचि का नाम है—श्रद्धा। मिथ्या विश्वास हिंसा का ही रूप है। उससे आत्मा आवृत होती है।

१ जातिवाद—जाति विशेष को अछूत समझना, उससे घृणा करना मानसिक व्यामोह है।

२ पुत्र पैदा किये बिना स्वर्ग नहीं मिलता।

---

१ आत्मानुशासन २३७ रागद्वेषौ प्रवृत्ति स्यात्, निवृत्तिस्तन्निरोधनम्।

२. उत्तराध्ययन ३।१२ धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

३. युद्ध मे मरने वाला स्वर्ग जाता है।

४. सारी सृष्टि मनुष्य के भोग के लिए है, वह सर्वोत्तम प्राणी है, आदि-आदि मिथ्या विश्वास हैं।

अपुत्र की गति नहीं होती, 'युद्ध मे मरने वाला स्वर्ग जाता है'—ये सामयिक अपेक्षाए हो सकती हैं, अहिंसा-धर्म नहीं।

वैदिक विचार[1] से जैन विचार का यह मौलिक भेद है[2]। मनुष्य सर्वोत्तम प्राणी है—यह सही है। सर्वोत्तम के लिए अल्पोत्तम की उपेक्षा की जाए, यह गलत है, हिंसा की दृष्टि है।

"हिंसा का अनिरुद्ध स्रोत चलता है, उसका आधार यही है कि मनुष्य अपने आपको सबसे ऊचा मानता है। मनुष्य-हित के लिए सब कुछ किया जाना उचित है—इस मिथ्या धारणा के बल पर वैज्ञानिक प्रयोगो की वेदी पर लाखो-करोडो जीवो की बलि चढ़ती है। जीने का अधिकार सबको है। सुख-दुख की अनुभूति सबको है। जीवन प्रिय और मृत्यु अप्रिय सबको है। इसको भुलाकर मूक जीवो की निर्मम हत्या करने वाले एक महान् सत्य से आखें मूदते हैं। खाद्य और विलास के लिए भी बड़ी-बड़ी हिंसाए चलती हैं। सारी सृष्टि मनुष्य के लिए ही है। यदि पशु न मारे जाए तो वे सारे जमीन पर छा जाए—ऐसी धारणाए हैं। उन्हें उखाड फेके बिना जीव-दया का मूल्य नही बढ़ेगा।"

चारित्र का अर्थ है—विरति या सयम। यह आत्म-शोधन की निरोधात्मक प्रक्रिया है। इससे पूर्व-मालिन्य का शोधन नहीं होता किन्तु भविष्य के मालिन्य का निरोध होता है। आत्मा नए सिरे से अशुद्ध नही बनती।

पूर्व-मल-शोधन की प्रक्रिया तप है। जितनी भी निवृत्ति-सवलित प्रवृत्ति है अथवा मन, वाणी और कर्म का जितना भी अहिंसात्मक व्यापार है, वह सब तपस्या है। ये चारो (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) समुदित दशा मे मुक्ति के साधन हैं अत. इन चारो की समष्टि ही अहिंसा का समग्र रूप है।

स्वास्थ्य-साधना

अहिंसक की वृत्तियां आवेग-रहित होनी चाहिए। आवेग हैं .

१ क्रोध

२ मान

---

१ (क) अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।
(ख) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्.

२ जाया य पुत्ता न हवन्ति ताण· —उत्तराध्ययन १७

३ माया
४ लोभ
५ चुगली
६ निंदा
७ आरोपकरण
८ घृणा-तिरस्कार
९ कलह
१० पक्ष का आग्रह
११ भय ।

शारीरिक वेग दूसरी कोटि के हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से शारीरिक वेग (मल, मूत्र आदि का वेग) नही रोकना चाहिए। उनका वेग रोकने से स्वास्थ्य की हानि होती है। किन्तु इन मानसिक आवेगो को रोकने के बारे में आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनो एकमत हैं।

१ अहिंसक को क्रूर नही होना चाहिए। क्रोध क्रूरता लाता है, प्रेम का नाश करता है।

२ अहिंसक नम्र होगा, उद्दण्ड नहीं। दूसरो को तुच्छ समझने की भावना हिंसा है। जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य, श्रुत, लाभ और तप—ये आठ मद है। अहिंसक को इनका अहकार नही करना चाहिए। उद्दण्डता से विनय नष्ट हो जाता है। उद्दण्डता जैसे हिंसा है, वैसे गुलामी और हीन भावना भी हिंसा है। अहिंसा का मर्म मध्यस्थ वृत्ति या सयम है। सफलता मे उत्कर्ष और असफलता मे अपकर्ष —ये दोनो नही होने चाहिए। दोनों मे सम रहना अहिंसा है। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निंदा-प्रशसा, मान-अपमान मे जो समवृत्ति होता है, वही अहिंसक है।[1]

अहिंसक मे विवेक होता है, इसलिए वह लाभ और अलाभ को सम नहीं मानता। किन्तु उसमे आत्माभिमुखता होती है, इसलिए वह दोनो स्थितियो मे अपनी वृत्तियो को सम रख सकता है। अहिंसा आत्म-निष्ठा की उपासना है। हीन भावना के त्याग के लिए आत्मा की उपासना परम-तत्त्व के रूप मे होती है —'जो परम तत्त्व है वह मैं हूँ।' अहकार-त्याग के लिए उसकी उपासना समता के रूप मे होती है—'आत्मा मात्र समान है।'

३ अहिंसक को काय-ऋजु, भाषा-ऋजु, भाव-ऋजु होना चाहिए। उसके

---

१ उत्तराध्ययन १९-९१ लाभा लाभे सुहे दुखे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥

शरीर, वाणी और मन का व्यापार सरल होना चाहिए। वक्रता हिंसा है। माया भी हिंसा है। इससे मैत्री का नाश होता है।

४ पदार्थों के लिए या उनके व्यवहार मे आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आसक्ति या असन्तोष हिंसा है। यह सद्‌गुणो का नाश करता है।

५-६ परोक्ष मे बुराई करना चुगली और सामने बुराई करना निन्दा है। अहिंसक बुराई को मिटाना चाहता है, इसलिए वह दूसरो की बुराई कर नहीं सकता। बुराई का प्रकाशन करने से बुरा भला नही बनता। बुरे को सुधारने का उपाय है—उसके हृदय मे बुराई के प्रति ग्लानि उत्पन्न कर देना।

७-८-९ दूसरो पर आरोप लगाना, लडना-झगडना, घृणा करना, ये सब मानसिक असन्तोष के परिणाम है।

१० पक्ष का आग्रह मिथ्याभिमान का परिणाम है।

११. भय हिंसा का कार्य और कारण दोनो है। भय से हिंसा वृत्ति उत्पन्न होती है और हिंसा से भय बढता है। सस्कारी दशा मे वृत्तियो की दशा बदलती है, उनका उन्मूलन नही होता।

ऊपर कहे हुए आवेगो के नियन्त्रण से निम्न वृत्तियां फलती हैं —

१ क्षमा या उपशम
२ नम्रता या मृदुता
३ ऋजुता
४ अनासक्त भाव या सन्तोष
५ पर-गुण-ग्राहकता
६ स्व-श्लाघा-वर्जन
७ स्व-दोष-दर्शन
८ प्रेम या मैत्री
९ शाति
१० सत्य का आग्रह
११ अभय

अथवा यू कहा जा सकता है कि ये वृत्तियाँ उनके नियन्त्रण के साधन है। बुराई से बुराई को मिटाने की बात हिंसा का सिद्धान्त है। जैसे आग से आग नहीं बुझती, वैसे ही क्रोध से क्रोध नही मिटता। क्रोध की विजय का उपाय है—अक्रोध या उपशम। अहिंसक को धीर, गम्भीर और शान्त होकर वेगात्मक वृत्तियो पर विजय पानी चाहिए। आवेग-मुक्ति, भय-मुक्ति, वासना-मुक्ति और व्यसन-मुक्ति होने से रोग-मुक्ति स्वयं हो जाती है। आवेग-विजय का अर्थ है—स्वास्थ्य,

स्वस्थता, आत्म-स्थिति।

अहिंसा का विवेक

अहिंसा की साधना कठोर है, इसलिए उसके साधक को कष्ट-सहिष्णु होना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने कहा—"दैहिक कष्टों को सहनशीलतापूर्वक सहने से महान् फल होता है।"[१] इसका यह अर्थ नहीं कि कष्ट ही कष्ट सहते रहना चाहिए। अहिंसा का सिद्धान्त है—हिंसा पर विजय पाने के लिए जितना कष्ट सहना पडे, वह सब सहा जाए। इसी सिद्धान्त के आधार पर तपस्या का विकास हुआ। इन्द्रिय और मन को जीते बिना अहिंसा जीवन मे नहीं आ सकती। इनकी विजय के लिए बाह्य वस्तुओ—विषयो का त्याग आवश्यक है। वही तपस्या है। उससे बाह्य वस्तुओ का सम्बन्ध छूट जाता है, फिर भी उनकी वासनाएँ शेष रह जाती हैं। उन्हें निर्मूल करने के लिए ध्यान है। वह भी तपस्या है। पहली बाह्य तपस्या है और दूसरी अन्तरग। एक से बाह्य-शुद्धि होती है और दूसरी से अतरग-शुद्धि।

वस्तु-त्याग के रूप है

१ अनशन—खान-पान का त्याग, एक दिन के लिए या उससे अधिक।

२ ऊनोदरिका

(१) खान-पान मे कमी, भूख से कम खाना, कम चीजें खाना आदि।

(२) क्रोध आदि की कमी करना।

३ वृत्ति-सक्षेप—जीवन-निर्वाह के साधनो का सक्षेपीकरण।

४ रस-परित्याग—सुस्वादु व गरिष्ठ भोजन का त्याग या सीमाकरण।

५ काय-क्लेश—शारीरिक सुख-सुविधा का त्याग, ध्यान व आसन।

६ प्रतिसलीनता

(१) इन्द्रियो के विषयो का त्याग।

(२) क्रोध आदि का त्याग—अनुदित क्रोध का त्याग और उदित क्रोध का विफलीकरण।

(३) अकुशल मन, वाणी और कर्म का निरोध, कुशल मन, वाणी और कर्म की उदीरणा।

(४) विकारहेतुक मकान और आसन का त्याग।

जीवन के अन्तर-शोधन की प्रक्रिया के तत्त्व ये हैं :

१ प्रायश्चित्त—किए हुए पापों की आलोचना।

---

१ दशवैकालिक ८ देहे दुक्खं महाफलं

२. विनय—मन, वाणी और कर्म की नम्रता।
३. वैयावृत्य (सेवा)—अपनी शक्तियों का दूसरे के निश्रेयस् के लिए व्यापार।
४ स्वाध्याय—मुक्तिकारी विद्या का अध्ययन, मनन, चिन्तन।
५ ध्यान—मन की वृत्तियों का स्थिरीकरण।
६ व्युत्सर्ग—शरीर का स्थिरीकरण या शरीर और चेतन के भेद का ज्ञान।

वस्तुओ का त्याग व्यावहारिक या स्थूल होता है, वासनाओ का त्याग आन्तरिक या सूक्ष्म। आन्तरिक शोधन के लिए विकार के बाहरी साधनो का वर्जन आवश्यक है। यह साध्य की सिद्धि नहीं है। उसकी सिद्धि, आन्तरिक वासनाएँ जो गहरी जडे जमाए हुए हैं, उनके निर्मूलन से होती है।

खाद्य-विवेक

खान-पान के विना जीवन नही टिकता, इसलिए वह जीवन की मुख्य प्रवृत्ति है और वह हिंसक तथा अहिंसक दोनो के लिए समान है—समान, जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से, फल की दृष्टि से नही। अहिंसा की साधना देह-मुक्ति की साधना है, इसलिए उसमे मुख्य बात देह-पोषण की नही होती। 'अहिंसा अखण्ड रहे, देह भले छूट जाए'—अहिंसक ऐसा व्रत लिए चलता है। अहिंसा मे आपद्-धर्म का कोई स्थान नही है। देह को टिकाए रखने की भावना मुख्य बनते ही अहिंसा गौण हो जाती है।

जीवन टिका न रहे तो अहिंसा की साधना कैसे हो? कौन करे? इसलिए अहिंसा की साधना करने के लिए जीवन को बनाये रखना आवश्यक है। जीवन को बनाए रखने का मुख्य साधन खान-पान है। इस दशा मे खान-पान की हिंसा अहिंसा का ही एक अग बन जाती है—इस कोटि का चिन्तन भी प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु यह अहिंसा की मर्यादा के प्रतिकूल है। भविष्य की अहिंसा के लिए वर्तमान की हिंसा अपना रूप नहीं त्यागती—अहिंसा के लिए की जानेवाली हिंसा अहिंसा नही बनती। 'मुनि अपने जीवन की सब प्रवृत्तियों मे अहिंसा का विचार लिए चलता है। वह खान-पान के लिए भी हिंसा नही करता।' अपने लिए बनाया हुआ भोजन नही लेता। उसकी भिक्षा नव-कोटि-परिशुद्ध होती है।

गृहस्थ के लिए इतना कठोर व्रत सम्भव नहीं। उसकी भूमिका भिक्षावृत्ति की नहीं होती। भिक्षा तीन प्रकार की होती है:

१. पौरुषघ्नी,

२ वृत्तिघ्नी,

३. सर्व सम्पत्करी।

कार्य करने मे समर्थ गृहस्थ भीख मागता है—वह 'पौरुषघ्नी भिक्षा' है। यह समाज की निम्न-दशा का चिह्न है। अपग व्यक्ति भीख मांगते हैं वह 'वृत्तिघ्नी भिक्षा' है। यह समाज-व्यवस्था का दोष है। 'सर्व सपत्करी भिक्षा' मुनि की होती है। वह न आलसी बनकर भीख मागता है और न हीन बनकर। वह भिक्षा को कष्ट मानकर उसे सहता है। दूसरो के सामने हाथ पसारना कठोर मार्ग है, फिर भी मुनि के लिए इसके सिवा जीवन-निर्वाह का दूसरा कोई विकल्प नही होता। इसलिए उसे भिक्षा मागनी होती है। गृहस्थ पूर्ण अहिंसा की भूमिका मे नही होता, इसलिए उसे खान-पान के लिए भी हिंसा करनी पड़ती है। किन्तु जिसकी गति अहिसा की ओर हो उसमे खाद्य-विवेक अवश्य होना चाहिए।

अहिंसाव्रती को वैसी वस्तुए नही खानी चाहिए, जिनसे आवश्यकता-पूर्ति कम हो और हिंसा अधिक। उसे स्वाद के लिए कुछ भी नही खाना चाहिए और मादक वस्तुओ का सेवन नही करना चाहिए।

मास-त्याग का आधार यही (खाद्य-विवेक) है। मास मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नही है। उसे खाने के पीछे स्वाद-वृत्ति, पौष्टिकता आदि भावनाएं होती हैं। मादकता, उत्तेजकता आदि उसके कुपरिणाम हैं। उससे वृत्तियो की तामसिकता बढ़ती है। मांस-भोजन के लिए बड़े जीवो की ही नही, उनके अतिरिक्त असख्य छोटे जीवो की भी हिंसा होती है। ऐसे अनेक प्रसग मिलकर मांसाहार त्याग के निमित्त बनते है। कोमल वृत्ति का जागरण होने पर व्यक्ति का विवेक किस प्रकार जाग उठता है वह निम्न घटना मे पढिए

जब बीमार पड़े हुए बर्नार्ड शा से डॉक्टरो ने कहा कि 'यदि आप गाय का मास नहीं खाते तो मर जाएगे। तब बुद्धिमान् शा ने 'लन्दन डेली क्रोनिकल' नामक दैनिक पत्र मे इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किए

"मेरी स्थिति बड़ी गम्भीर है। मुझे जीवन-दान इस शर्त पर दिया जा रहा है कि मैं गाय या बछड़े का मास खाऊँ। परन्तु मेरी श्रद्धा है कि प्राणी मात्र का शव भक्षण करने की अपेक्षा मृत्यु कही अधिक अच्छी है। मेरे जीवन की अन्तिम आकांक्षा मेरी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए मार्गदर्शन करती है कि मेरी मृत्यु के पश्चात् भेड़े, दूध देने वाले पशु तथा छोटी-छोटी मछलियाँ आदि सभी जीव मेरी मृत्यु का शोक न मनाकर अपने गलो पर शुभ्र वस्त्र बाँधकर ऐसे व्यक्ति के सम्मान में प्रसन्नतापूर्वक समारोह मनाए, जिसने जीव-जन्तुओ का मास खाने के स्थान पर मर जाना अधिक अच्छा समझा। मेरी अन्तिम यात्रा 'नोहाआर्क' के अपवाद को

छोड़कर सबसे निराली घटना होगी।"[1]

अन्तर्मुखी दृष्टि

अहिंसक की दृष्टि अन्तर्मुखी होनी चाहिए। बहिर्मुखी दृष्टि वाला व्यक्ति बुराई करते समय 'कोई देख न ले' इसका बचाव करता है, अपना बचाव नहीं करता। इससे बुराई गूढ़ बन जाती है। प्रकट रोग से छिपा रोग और अधिक जटिल होता है। दृष्टि अन्तर्मुखी होने पर व्यक्ति का सहज प्रयत्न बुराई से बचने का होता है, फिर चाहे कोई देखे या न देखे। दिन और रात, एकान्त और सहवास, शयन और जागरण में जिसका हिंसा से बचने का समान प्रयत्न हो, थोड़ा भी अन्तर न आए, वही व्यक्ति अहिंसक या अन्तर्मुखी दृष्टि वाला है। बुराई मे जिसको अपना अनिष्ट दीख पडे, वही व्यक्ति बुराई को छोड़ सकता है। लज्जा, भय या अनुशासन के द्वारा बुराई गूढ बन जाती है, मिटती नही। आचार्यश्री तुलसी के शब्दो से—"मारने वाले को जीव-हिंसा मे अपना अनिष्ट दीख जाए, तभी वह उसे छोड सकता है, नही तो नही।" आत्मानुशासन का स्रोत अन्तर्मुखी दृष्टि ही है।। आत्मानुशासन का अर्थ है—अपने पर अपना अनुशासन। इसका जागरण होने पर अहिंसा का विकास हो जाता है।

विकार-परिहार की साधना

विकार-विजय का अर्थ है—आत्म-विजय। विकार व्यक्ति-हेतुक भी होते हैं और समाज-हेतुक भी। हिंसा और परिग्रह, वासना और भूख-प्यास—ये वैयक्तिक विकार हैं। असत्य और चोरी सामाजिक विकार हैं। अकेलेपन मे भी व्यक्ति छोटे-बडे जीवो की हिंसा करता है, पदार्थ का संग्रह करता है। असत्य और चोरी, ये अकेलेपन मे नहीं होते। इसलिए ये दोनो सामाजिक जीवन के सहचारी हैं—ऐसा स्पष्ट जान पडता है। वासना और भूख-प्यास जैसे देह-सम्बद्ध हैं, वैसे असत्य और चोरी, चोरी देह-सम्बद्ध नही हैं। वे जैसे व्यक्ति को सताते हैं वैसे असत्य और ये नही सताते। ये देह की अपेक्षाए नही हैं, सहवास की स्थिति में उत्पन्न मानसिक विकृतिया हैं। भूख और प्यास विकार हैं पर वासना की कोटि के नही।

वासना के पीछे मोह का जो तीव्र वेग होता है, वह भूख-प्यास की अभिलाषा के पीछे नही होता। विषय का स्मरण, चिन्तन, इच्छा, स्नेह और भोग—ये वासना के स्थिरीकरण के हेतु हैं। पदार्थ और शरीर—ये दो वासना के क्षेत्र हैं। पाँच

---

१. धर्मयुग वर्ष ५ अंक ५ ता० ७।११।५४

इन्द्रियों के पांच विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द हैं। मन का प्रधान विषय संकल्प है। इसीलिए कहा गया है—"काम ! मैं तुझे जानता हूं। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं तो तेरा संकल्प ही नहीं करूंगा। इसलिए तू मुझमें उत्पन्न नहीं होगा।"[1]

पदार्थ मे आकर्षण होता है—स्पर्श की कोमलता, रस का माधुर्य, गन्ध की मादकता, रूप की मोहकता, शब्द की प्रियता होती है। इन्द्रियां इन्हें मन तक पहुंचाती है और वह इन्हें पाने के लिए अधीर हो उठता है और देह को भी अधीर बना देता है।

व्यक्ति में पदार्थ से अधिक आकर्षण होता है। व्यक्ति के शरीर को चैतन्य की विशेषता प्राप्त होती है, इसलिए उसमे दूसरो को आकृष्ट करने की इच्छा, भावाभिव्यजना और भाषा—ये विशेष गुण होते हैं। इनमे पदार्थ की अपेक्षा अधिक मोहकता और मादकता होती है। अहिंसक की दुनिया कोई दूसरी नही होती। वह इसी दुनिया मे पदार्थ और प्राणी के आकर्षणो के बीच रहता है। वह खाता-पीता है। उसे रूप दिखाई देते हैं। शब्द भी सुनता है। विषय से बचना एकान्ततः आवश्यक नही। एकान्तिक आवश्यक है—विकार से बचना। रूप को जानना चक्षु-इन्द्रिय का विषय है। वह न अच्छा है और न बुरा। रूप मे आसक्ति आती है, तब वह विषय नही रहता, विकार बन जाता है। विकार हिंसा है। मन निर्विकार बने बिना अहिंसा नही आती। अतएव अहिंसक के लिए विकार परिहार की साधना आवश्यक होती है। पदार्थ और प्राणी दोनों के प्रति विकार पैदा होता है पर वे उसके मूल स्रोत नही हैं। अपना शरीर विकार की अभिव्यक्तियो की प्रयोगशाला है, फिर भी विकार का मूल स्रोत नही है। आत्मा भी स्वभाव से विकारी नही है। विकार का मूल स्रोत है—मोह। वह आत्मा की अशुद्ध-दशा मे उस पर छाया रहता है। मोह की परम्परा आगे बढ़ती चलती है। मोह-मुग्ध व्यक्ति अपनी देह को ही आत्मा मानने लगता है। इससे उसमे देहासक्ति उत्पन्न होती है। स्व-देहासक्ति प्रबल होने पर पर देहासक्ति और उसके बाद पदार्थासक्ति बनती है। यह विकार-विकास का क्रम है। विकार-परिहार का क्रम है

१ विवेक-दर्शन,

२ आत्म-दर्शन,

३ बहिर्व्यापार-वर्जन।

---

१ काम ! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि॥

विवेक-दर्शन

चेतन और देह के भेद का ज्ञान—मैं चेतन हूं, मेरा शरीर अचेतन है। मैं अविनाशी हूँ, यह नश्वर है। मैं पुनर्भवी हूँ, यह एकभवी है। इसलिए हम दोनो दो हैं। इस विवेक-दर्शन से स्व-देहासक्ति का विलय होता है।

आत्म-दर्शन

आत्म-दर्शन का अर्थ है, दूसरों मे अपने जैसी आत्मा का साक्षात्कार करना। इससे प्रेम पवित्र बन जाता है। शरीर-सम्बन्धी प्रेम विकारी होता है। सही अर्थ में वह प्रेम होता ही नही। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ शारीरिक प्रेम मे बधता है। वहां प्रेम का आधार है—शरीर का आकर्षण। कल मानो छूत की बीमारी हो गई तब प्रेम टूट जाता है। पवित्र और विराट् प्रेम का आधार होता है—आत्म-दर्शन। इसके साथ जो प्रेम आता है, उसमें बीमारी और बुढापा—ये बाधक नही बनते। जिसमे आत्म-दर्शन की शक्ति प्रबल हो जाती है, वह विकारी प्रेम मे नही फँसता।

बहिर्व्यापार-वर्जन

इन्द्रिय और मन का व्यापार अन्तर्मुखी होता है, पदार्थों का अनावश्यक चिन्तन, दर्शन और ध्यान नही होता, तब पदार्थासक्ति छूट जाती है।

अहिंसक के लिए इन तीनो की आराधना आवश्यक है। ऐसा किए बिना विकारो का परिहार नहीं होता। अहिंसा का अर्थ है—निर्विकार-दशा।

२

हृदय-परिवर्तन की समस्या

मानव विविध-जातीय सस्कारो का सग्रहालय है। भलाई और बुराई—दोनो के बीज उसमे अकुरित होते हैं। परिस्थितियाँ निमित्त मात्र हैं। उनका सहयोग पा बीज अकुरित हो जाता है। बीज न हो तो वे किसे अकुरित करे। परिस्थितियो की अपेक्षा व्यक्ति अधिक बलवान् होता है। वह उनसे अप्रभावित रह सकता है। यह भी सच है, उनकी सर्वथा उपेक्षा नही की जा सकती।

आज का युग नाना वादो का केन्द्र बन रहा है। कोई युग धार्मिक मत-वादो का था। आज प्रत्येक समस्या को राजनैतिक स्तर पर सुलझाने का प्रयत्न किया जाता है। राजनीति की धुरी अर्थ-तन्त्र है। इसलिए आज का युग राजनीतिक वाद या अर्थवाद का अखाडा बन रहा है। विचारो और वादो का इतना सघर्षण है कि उनकी चिनगारिया अग्नि को शान्त नही होने देती। अपने आपको भुलाकर दूसरो को जगाने की वृत्ति जो आज है, वह पहले कभी इतनी उग्र हुई, ऐसा नही मिलता। विश्व-शान्ति की माग भी आज अभूतपूर्व है।

विज्ञान का युग है। प्रत्येक तथ्य कसौटी पर कसा जाता है। श्रद्धा को स्थान नही रहा। पुरुषार्थ की गाथाए गायी जाती है किन्तु सिद्धान्त के रूप मे। कार्य-रूप मे पहला स्थान परिस्थितियो को मिल रहा है। 'परिस्थितिया ऐसी हैं, हम क्या करे ?' यह उत्तर आप बिना किसी कठिनाई के सुन सकते है। आश्चर्य की बात यह है—व्यक्ति अच्छे या बुरे कार्य करता है। उनके अच्छे या बुरे परिणाम होते हैं। अच्छे कार्यों और उनके अच्छे परिणामो का दायित्व वह स्वय लेना चाहता है, बुरे कार्यों और उनके बुरे परिणामो का दायित्व वह दूसरो पर डाल देता है। और कोई न मिले तो परिस्थितियां तो हैं ही। वे कभी इस प्रवृत्ति का विरोध तक नही करती। यह क्या है परिस्थितिवाद या पुरुषार्थवाद ? यह सही है—परिस्थितिया व्यक्ति को प्रभावित करती हैं किन्तु तभी जब उपादान शक्तिहीन होता है। समर्थ

व्यक्ति परिस्थितियों का दास बनकर कभी नहीं चलता। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियां न्यूनाधिक मात्रा में सदा सब जगह और सबके जीवन में रहती हैं। उनसे भय खाने वाले लड़खड़ा जाते हैं और उनसे लड़ने वाले विजयी बन जाते हैं। लड़ने की दो पद्धतियां हैं—एक लम्बा-चौड़ा मार्ग और एक संकरी पगडंडी। पहला मार्ग बल-प्रयोग का है। इसमें बुराई न मिटने की स्थिति में बुरे को मिटाने की क्षमता है। दूसरी जो पगडंडी है, वह इसलिए संकरी है कि उसमे बुरे को मिटाने की कल्पना तक नहीं होती।

व्यक्ति की अपनी दुर्बलताएं होती हैं—काम-वासना, क्रोध, लालच, आराम-तलबी आदि आदि। इन पर जो नियन्त्रण पा जाता है, उसे परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। पर वे उसे दबा नहीं सकतीं। जो अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं पर नियंत्रण करना नही जानता या नहीं चाहता, उसे परिस्थितियां निगल जाती है। परिस्थितिवाद निराशावाद है। इसकी परम्परा निरन्तर चलती है। पुराने लोग कर्मवाद या भाग्यवाद की ओट मे अपनी कमजोरियों को पालते थे। आज उनका लालन-पालन परिस्थितिवाद के सहारे हो रहा है। यह सच है—कर्म, भाग्य, परिस्थिति का अपना-अपना स्थान है किन्तु व्यक्ति उनसे घबराकर अपना पुरुषार्थ खो बैठे—यह अस्थानीय है। सार यही है कि सब बुराइयों की जड़ व्यक्ति की अपनी दुर्बलताए हैं। परिस्थितिया उनको पोषण देती हैं, उन्हें मूर्त बनाती हैं। क्रोध व्यक्ति की दुर्बलता है किन्तु उसे उभारने वाली स्थिति बने बिना वह मूर्त नही बनता। गाली सुनते ही वह भभक उठता है। परिस्थिति ने इतना किया कि छिपी हुई बुराई को उभाड दिया। बुराई को नए सिरे से उत्पन्न करने की शक्ति उसमे नही होती।

मूल मे भूल है। युग का प्रमुख विचार बन रहा है—परिस्थितियो को सुधारो, तात्पर्य कि बुराई की शाखा को मिटा दो। होना यह चाहिए कि बुराई के मूल को सुधारो। मूल सुधारे बिना शाखाएं बनती-बिगड़ती रहेंगी, अर्थ कुछ नहीं होगा। परिस्थितिया परिवर्तित होती रहती है। एक परिस्थिति में सुधार आता है और उससे पोषण पाने वाली बुराई छिप जाती है। दूसरी परिस्थिति बनती है और दूसरे प्रकार की बुराई साकार बनने लग जाती है। उदाहरण से समझिए— एक युवक अविवाहित दशा में अप्राकृतिक मैथुन का व्यसनी बन जाता है। विवाह होता है, स्थिति बदल जाती है, अप्राकृतिक क्रिया छूट जाती है। अब नई स्थिति उसे नई बुराई का शिकार बना डालती है। गृह की चिन्ता से वह व्यापारी बनता है और पत्नी को सन्तुष्ट रखने की चिन्ता से शोषक। अच्छे कपड़े चाहिए, गहने चाहिए, सौन्दर्य प्रसाधन की सामग्री चाहिए, साज-सज्जा की वस्तुए चाहिए, वह

सब कुछ चाहिए जो दूसरो को सुलभ है। शोषण के बिना यह सब आए कहाँ से ? न्याय का दरवाजा इतना बडा नहीं है। आखिर यह सब अन्याय के द्वारा आता है। धन का सग्रह बढता है। सुविधाए बढती हैं। ऐश्वर्य और यश भी बढ़ते हैं। स्थिति का चक्का घूमता है और उस पर विलास छा जाता है। अब न व्यापार की चिन्ता रहती है और न किसी दूसरी वस्तु की। वह बढना है और इतना बढ़ता है कि आखिर सारी पूजी को चट कर जाता है।

यही गति समस्याओं और उनके समाधान की है। एक परिस्थिति में रोटी की समस्या है। दूसरी स्थिति मे उसका समधान मिलता है किन्तु वैयक्तिक स्वातन्त्र्य सीमा से अधिक बढ जाता है। नई स्थिति नई समस्या को जन्म न दे, यह लगभग असभव-सा है। इसीलिए यह मानना होगा कि परिस्थिति का परिवर्तन नई परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है किन्तु व्यक्ति को परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त नही कर सकता। व्रत की परम्परा या हृदय-परिवर्तन मे परिस्थिति-परिवर्तन से पहले उससे अप्रभावित रहने की बात मुख्य है। आन्तरिक दुर्बलता मिटने पर बुरी परिस्थिति व्यक्ति की कसौटी भर बन सकती है, राक्षसी बन उसे डकार नही सकती।

समस्याए कई दैहिक होती हैं और कई मानसिक। कई बाहरी (पर-कृत) होती हैं और कई आन्तरिक (स्वकृत)। कई सामूहिक होती है और कई वैयक्तिक। दैहिक, बाहरी और सामूहिक समस्याओ को प्राथमिकता मिलती है। दैहिक समस्याए न सुलझें तो देह टिके कैसे ? बाहरी समस्याए सहज बुद्धिगम्य हो जाती हैं— उनकी बुराई समझने में कोई तार्किक कठिनाई नहीं होती। सामूहिक समस्याए विस्फोट कर सकती हैं। यही कारण है, मनुष्य की सारी चेष्टाए इनके समाधान की ओर मुह किए चल रही है।

१ रोटी की समस्या, कपडे और मकान की समस्या—ये एक कोटि की समस्याए हैं। दूसरी कोटि की समस्याए हैं— सौन्दर्य और विलास के साधनो की दुर्लभता।

२ पडोसी स्वभाव का चिडचिडा है। वह बिना मतलब बकवास करता है, कलह करता है, शान्ति से नही रहने देता। पति कुछ चाहता है और पत्नी कुछ। पिता-पुत्र के विचार मेल नही खाते। भाई-भाई की रुचि भिन्न है। ऐसी-ऐसी असख्य उलझनें बाहर से आती हैं।

३ सामाजिक समस्याओ से भी कौन कैसे बच सकता है ? एक व्यक्ति दहेज देना नही चाहता किन्तु वह (दहेज) दिए बिना बेटी की गति नहीं। जहां कन्याओं की सुलभता है, वहा वे बिकती हैं और जहां कुमार सुलभ हैं, वहां वे

बिकते हैं। कोई इन्हें बेचना न चाहे तो उनके कुमार भाव को बरसात साल बैठा रहे। रिश्वत देने की इच्छा नहीं। अनिच्छा का कारण त्याग आते हैं, यह भी नहीं। उसका मूल हेतु है—अनीति न बढ़े। किन्तु यह दिए बिना सत्य भी बदल जाता है। टिकट नहीं मिलती। लाइसेन्स नही मिलते। बड़ों से मुलाकात नही हो सकती। सार्वजनिक हॉस्पिटल मे भी रोगी को सही चिकित्सा की गारण्टी नहीं मिलती।

ये सभी अखरते हैं—एक को, दो को और बहुतों को। इसीलिए इन्हें सुलझाने के लिए समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातन्त्र आदि-आदि शासन-पद्धतिया, नागरिक सभ्यता और सामाजिक सुधार के कार्यक्रम चलते हैं। किन्तु मानसिक, आन्तरिक और वैयक्तिक समस्याओ की उपेक्षा हो रही है। ध्यान देना होगा, कही सारी समस्याओ का मूल यही तो नही है? दैहिक आवश्यकताए पूरी हो जाती हैं, फिर भी उत्तरोत्तर अतृप्ति बढ़ती है। अमुक रोग या अमुक स्थिति में अमुक पदार्थ खाना हितकर नहीं किन्तु वह स्वादिष्ट है, इसलिए खा लिया जाता है। अधिक अब्रह्मचर्य से शारीरिक और मानसिक शक्तिया क्षीण होती हैं किन्तु सयम नही रहता। अनावश्यक सग्रह से चिन्ता, भय और प्रतिशोध बढ़ते हैं किन्तु उसके बिना मानसिक सन्तुष्टि नही होती।

बाहरी और सामूहिक समस्याए परिवर्तित होने पर क्या व्यक्ति आनन्द से भर जाता है? ऐसा नहीं होता। महत्त्वाकाक्षा केवल उन्नति की आकांक्षा नहीं किन्तु सर्वोच्च बनने के लिए दूसरो को गिराने की प्रवृत्ति, यशोलालसा ईर्ष्या असहिष्णुता आदि-आदि ऐसी वृत्तिया हैं, जो व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति को कुरेदती रहती हैं।

सर्व सुविधा-सम्पन्न राष्ट्र के नागरिक, जिन्हें जीवन की अनिवार्यताए नही सतातीं, क्या इन वृत्तियो से मुक्त हैं? पर्याप्त सुविधाए मिलने पर भी उनमें संयम की चेतना न जागे तो शान्ति नही आती। दो व्यक्ति हैं। एक प्रेम करना चाहता है, दूसरा नही चाहता। चाह पूरी नही होती, मन अशान्ति से भर आता है। चाह या अपेक्षाए अनेक होती हैं। जिनसे जो अपेक्षाए हैं, वे उन्हें सफल नहीं बनाते, अपेक्षा रखने वाला खाक हो जाता है। सम्पन्न व्यक्तियो के जीवन में भी उलझनें आती हैं। कई चिन्ता में प्राण होम डालते हैं। कई आत्महत्या से भी नही चूकते। तात्पर्य में मत भूलिए—सुविधाओ से जीवन सरस बन जाता है, यह मनुष्य के सिर में सींग होने की बात से कम मिथ्या नहीं है।

मोटर का ड्राइवर चाहता है—मैं सेठ जैसा धनी बनू। सेठ मन ही मन प्रार्थना करता है—मुझे ड्राइवर जैसी निश्चिन्त नींद आए। ड्राइवर शान्ति के मूल्य पर

सुविधाएं चाहता है। यह सच है, सुविधा का स्वाद चखे बिना शान्ति का मूल्य समझ में नहीं आता। अभाव में प्रत्येक वस्तु मूल्यवान् बन जाती है। शान्ति की खोज सुविधाओं के अभाव से नहीं निकलती। वह अनेक अतिरेक से उत्पन्न होती है। इतिहास देखिए—बड़े-बड़े धनपति सुविधाओं का भोग करते-करते थक गए, तृप्ति नहीं मिली। उस अतृप्ति ने उन्हें तृप्ति-मार्ग ढूंढने को प्रेरित किया और वे सुविधाओं को ठुकराकर कठोर पथ की ओर चल पड़े। त्याग की अकिंचनता ने उन्हें तृप्त बना दिया।

पदार्थ का अभाव सताता है, उसका भाव असन्तोष पैदा करता है। संयम स्वस्थ बनाता है। एक व्यक्ति मोटर दौड़ाए जाता है। गरीब को ईर्ष्या हो जाती है। उसे पदल चलने में दीनता जान पड़ती है। वह एकबारगी तड़प उठता है—मोटर के लिए। एक संयमी ने भी उसे देखा किन्तु स्पर्धा नहीं बनी। उसने पाद-विहार का व्रत वाहन-यात्रा से अधिक महत्त्वपूर्ण मान स्वीकार किया है। तात्पर्य की भाषा मे पढ़िए—तृप्ति अभाव मे भी नही है, भाव मे भी नही है, यह उनसे परे है। यह जो परे की वृत्ति है, वही हृदय परिवर्तन है। समस्या यह है—गरीबों की धन मे निष्ठा है। वे सुविधाओ को ही सर्वस्व मान बैठे है। धन से परे भी सुख शान्ति है—यह भी उनकी समझ से परे है। दूसरी ओर धनपति पूजी के दलदल में फसे हुए हैं। उनकी शांति की चाह सुविधा के व्यामोह को चीरकर आगे नही बढ पाती। धोबी का कुत्ता भूख के मारे ढाचा-भर रह गया। मित्र कुत्तों ने उस घर को छोड स्वतन्त्र घूमने की सलाह दी। वह भी इसे महसूस करता था किन्तु वैसा हो नहीं सका। कुत्ते का नाम था 'सताबा'। धोबी की दोनो पत्निया लडती, तब एक-दूसरे को 'सताबे की बेर' कहकर पुकारती। गाली-गलौज मे उनके पति होने का मोह वह नहीं छोड सकता। भूख ने उसके प्राण ले लिए।

चारों ओर ऐसा ही व्यामोह छा रहा है। जीवन के मूल्य स्वयं अनीति के पोषक बन रहे है। इस स्थिति में हृदय परिवर्तन का प्रश्न बड़ा जटिल बन जाता है। इसे जटिल बनाने वाला दूसरा एक कारण और भी है। धनपतियो के शोषण ने गरीबो के दिल में एक प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर दी। अब वे केवल धनपतियों के ही विरोधी नहीं किन्तु उनकी दार्शनिक मान्यताओ के भी विरोधी बन गए। धनपति अध्यात्म और सन्तोष की बातें करते है, उन्हे वह ढकोसला लगता है। धर्म को भी वे शोषण का आलम्बन मान बैठे हैं। उनके मानने के पीछे एक तथ्य भी है। शोषण के द्वारा धन-संग्रह करते हैं, पीछे शुद्धि की भावना से थोड़ा धन खर्च कर वे धर्म-वीर बन जाते हैं। धर्म-अराधना की यह सीधी क्रिया उन्हें शोषण से दूर होने का अवसर ही नहीं देती।

आज के विश्व-मानस का अध्ययन कीजिए, आपको लगेगा, राजनीतिकवाद जनता के मन पर छा गए। आत्मा, धर्म, ईश्वर, परलोक, सद्गति और पारमार्थिक शान्ति की चर्चा नही भाती। चरम लक्ष्य हो रहा है—इसी जीवन की अधिकतम उन्नति। हृदय-परिवर्तन की अपेक्षा उन्हें है जो आत्मशान्ति में विश्वास रखते हैं, हिंसा को यहाँ और आगे अशान्ति बढ़ाने वाली मानते हैं। जिन्हे आगामी जीवन से कोई लगाव नही, चालू जीवन में हिंसा द्वारा सुविधाएं सुलभ होती हैं, तब उन्हें हृदय-परिवर्तन की बात कैसे रुचे ? भौतिक सुख-सुविधाएं ही जिनका चरमसाध्य है, वे अहिंसा को क्यों महत्त्व दें। यह धूप जैसा साफ है, अधिक चोरबाजार करने वाले अधिक धनी बने। भलाई को लिए बैठे रहे, वे मुह ताकते रह गए। दुनिया धन से बिक चुकी। चोरबाजार करने वाले बडे हैं। भलों को पूछे कौन ? उनके पास वैसा कुछ है भी नहीं। वे न किसी को नौकरी दे सकते, न रिश्वत, न सहायता, न चन्दा न प्रीतिभोज और न और-और। कहिए, दूसरे भले क्यो बनें ? आखिर उन्हे भला बनने से क्या लाभ ? भलाई के साथ सहानुभूति है ? पुराने सस्कार शब्दो मे उतर आते होंगे, आचरण मे तो नहीं हैं। भलाई को प्रोत्साहन कैसे मिले ? जो दुनियावी बातो से लगाव रखते हैं, एषणाओ मे रस लेते हैं, यश, प्रतिष्ठा, सतान और सुविधाए चाहते हैं, वे भले नहीं बन सकते। भले आदमी उस दुनिया के प्राणी हो सकते हैं, जिन्हें इन बातों से कोई लगाव नही। पदार्थ की, मान-सम्मान की, बडप्पन की निरपेक्षा विरक्ति से आती है। विरक्ति मोह के न्यून होने से आती है और मोह की न्यूनता, आत्मा और पुदगल (चेतन और अचेतन) का भेद जानने से होती है। हृदय-परिवर्तन का असली रूप यही निरपेक्षता है। सामाजिक जीवन रहा सापेक्ष। निरपेक्षता है—वैयक्तिक जीवन की स्थिति। एक सामाजिक व्यक्ति उसे कैसे स्वीकार कर ले ? इस बिन्दु पर विचार रुक जाता है। वर्तमान समस्याओ का मूल यही लगता है।

सापेक्षता के एकागी स्वीकार से कठिनाइया बढ़ती हैं। सापेक्षता से स्पर्द्धा, स्पर्धा से हिंसा और हिंसा से अशान्ति—यह क्रम चल रहा है। हिंसा को प्रयुज्य मानने वाले भी शान्ति मे विश्वास रखते हैं, निःसैन्यीकरण या सैन्य के अल्पीकरण और निरस्त्रीकरण की चर्चा करते हैं। तब लगता है—हिंसा मे उनका विश्वास तो नहीं है। वे उसे अच्छी भी नहीं समझते। वे सिर्फ विवशता की स्थिति में उसके प्रयोग का समर्थन करते हैं। जैसे—कई धार्मिक सम्प्रदायो ने 'आपद्-धर्म' के रूप में हिंसा का समर्थन किया। रूप मे थोडा अन्तर है; भावना में स्यात् नहीं। आपद्-धर्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए हिंसा का समर्थन करता है और आज का नयावाद जीवन की अव्यवस्था के प्रतिकार के लिए। आखिर हिंसा जो सबके

लिए खतरा है, उत्तम मार्ग तो हो ही नही सकता। हिंसा करने वाले के विरुद्ध भी तो हिंसा बरती जा सकती है। हिंसा बुराई का प्रतिकार नही, बुरे का प्रतिकार है। बुरा कौन नहीं ? न्यूनाधिक मात्रा मे सब बुरे है। हृदय-परिवर्तन का मार्ग है—बुराई मिटे, बुरे-भले बन जाए। व्यक्ति को मिटाने की परम्परा गलत है। मिटाने की जो प्रकृति बन जाती है, वह फिर बुरा-भला नही देखती। अपने को नही रुचा, उसी को मिटाने की भावना उभर आती है।

विवशता व्यक्ति को क्रूर बनाती है। क्रूरता हिंसा बन फूट पड़ती है। ऐसी स्थितियां पहले भी हुई, अब भी होती हैं और जब कभी भी हो सकती है। कारण साफ है—हिंसा प्रतिशोध लाती है। हिंसा के प्रति हिंसा बनती है। शोषण, क्रूरता और दुर्व्यवस्था करने वालो के प्रति हिंसा बढ़ती जाती है, उसमे कोई आश्चर्य नही। किन्तु हिंसा के प्रयोग को दार्शनिक व सैद्धान्तिक रूप जो मिलना है, वह कुछ आश्चर्य जैसा है। कोई भी व्यक्ति यह नही चाहेगा कि उसके विरुद्ध कोई हिंसा बरते। दल या राष्ट्र के लिए भी यही बात समझिए। यह भी लगभग सच है—सहजतया (स्थूल रूप मे) कोई हिंसा करना भी नही चाहता। बड़ी हिंसा की प्रेरणा काल्पनिक स्वार्थों से मिलती है।

व्यक्ति समाज मे बधता जरूर है किन्तु मूल प्रकृतियो मे परिवर्तन नही आता। वह राष्ट्रीय रूप मे व्यापक बनता है किन्तु वह अपने राष्ट्र की परिधि मे बधकर अति-राष्ट्रीयतावादी बन जाता है। अपना प्रान्त, अपना गांव, अपना घर, अपना परिवार, अपना शरीर—इस प्रकार की विभाजक मनोवृत्ति उसे सही माने मे व्यक्ति ही बनाये रखती हैं। सामाजिकता सिर्फ काल्पनिक या कार्यवाहक जैसी होती है। अपने लिए समाज से कुछ मिलना है, तब तक वह सामाजिक बना रहता है। किन्तु जहां अपने स्वार्थ की क्षति मालूम होती है, वहा समाज उसके लिए कौडी के मूल्य का भी नही होता। इस अति-स्वार्थवाद से ही विषमताए और शोषण आदि बुराइया बढ़ती हैं। वैयक्तिक रूप सकुचितता उत्पन्न करता है किन्तु वह वस्तुस्थिति है। उसे मिटाया नही जा सकता। अपने शरीर, अपनी पत्नी और अपने पुत्र के प्रति या साधारणतया अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ के प्रति जो ममता हो सकती है, वह दूसरो के प्रति नही हो सकती। वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रति जितना ध्यान दिया जाता है, उतना सामाजिक सम्पत्ति के प्रति नही। 'मेरी है', 'इसका लाभ मुझे मिलेगा'—इसमे कोई विकल्प नहीं होता। 'सबकी है', 'इसका लाभ सबको होगा'—यहां अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं। जैसे—फिर मैं अकेला इसकी चिन्ता क्यो करू ? मैं अधिक श्रम क्यो करू ? मैं स्पर्धा क्यो करूं ? मैं लेखा-जोखा क्यो करूँ ?…

वैयक्तिक सत्ता कोई बुरी वस्तु नहीं है, अगर वह हित-अहित के दायित्व के रूप मे हो। व्यक्ति के अच्छे और बुरे कार्य का परिणाम आज या आगे उसी मे होगा—यह धारणा व्यक्ति को बुराई से बचाती है। कार्य के परिणाम का दायित्व व्यक्ति पर नहीं रहता है, तब अच्छाई मे उसे रस नहीं आता और बुराई से वह सकुचाता नही। इन्द्रियां लोलुप होती हैं और मन चपल। उन्हे इच्छा पूर्ति के सुन्दर से सुन्दर साधन चाहिए। कार्य का परिणाम भुगतने की चिन्ता नहीं होती, तब उनकी प्राप्ति की बात मुख्य होती है। वे कैसे मिलते हैं—यह बात मुख्य नहीं होती। इसी मनोवृत्ति ने मनुष्य को भोगी बना रखा है। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—त्याग की ओर झुकाव। त्याग मे व्यक्ति का अकेलापन निखरता है। यह हो नही रहा है। आचार्यश्री तुलसी के शब्दो मे—"व्यक्ति समाजवाद के क्षेत्र मे व्यक्तिवादी और व्यक्तिवाद के क्षेत्र मे समाजवादी बन जाता है।"

धन का सग्रह करते समय वह नही सोचता—सबके पास इतना सग्रह नहीं है या सब इतना सग्रह नही करते, मैं अकेला यह क्यो करू ? यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति समाज की ओर नही झांकती। भलाई के स्वीकार मे व्यक्तिवादी मनोवृत्ति होनी चाहिए, वहां सोचने का ढग यह होता है कि दूसरे लोग अन्याय से पैसा कमा आनन्द लूटते हैं, तब मैं ही क्यो उससे बचने का प्रयत्न करू ? यहा हृदय-परिवर्तन की स्थिति स्पष्ट होती है। व्यक्ति आत्मानुशासन के द्वारा ही बुराई से बच सकता है। आत्मानुशासन के स्रोत दो हैं आत्म-समर्पण और आत्म नियन्त्रण। आत्म-समर्पण से सहयोग और प्रेम बढता है, आत्म-नियन्त्रण से विशुद्धि। आत्मानुशासन मे कर्तव्य धर्म की निष्ठा होती है, इसलिए वह दूसरे की बुराई को अपनी बुराई के लिए प्रोत्साहित नही बनने देता। व्यक्ति का यह रूप तब समझ मे आता है, जब हम उसे परिस्थितियो से नियन्त्रित न मान उनसे स्वतन्त्र भी मानते हैं। इसके अनुसार निरपेक्षता व्यक्ति का स्वतन्त्र मूल्य है, उपचरित मूल्य है सापेक्षता। नग्नता स्वाभाविक है और लज्जा उपचारित। नग्नता निरपेक्ष है और लज्जा सापेक्ष। लज्जा की मर्यादा के बारे मे सब एकमत नही हो सकते किन्तु नग्नता सहज है—इसमे दो मत होने की बात नही। देश, काल और स्थिति के अनुसार मनुष्य—समाज के सस्कार बनते-बिगडते हैं। उनकी सचाई की कसौटी रुचि बन सकती है जो मान्यता का सत्य है। वस्तु-स्थिति का सस्कार से लगाव नही होता।

व्यक्ति को समाज व समाजजनित परिस्थितियों से बद्ध मानने वालो की दृष्टि में परिवर्तन की दिशा सामूहिक ही हो सकती है, वैयक्तिक नही। स्थितियां

बदलने पर व्यक्ति को स्वयं बदलना पड़ता है। व्यक्ति का हृदय बदलना ऐच्छिक है। समाज की मर्यादा बदलने पर व्यक्ति को बदलना अनिवार्य है। इतिहास के प्रोफेसर बताते हैं—जब कभी समाज में परिवर्तन आया, वह जनता की सामूहिक क्रान्ति से आया, व्यक्ति-व्यक्ति के परिवर्तन से नहीं। जन-क्रान्ति को ही दूसरे शब्दों में सत्ता की क्रान्ति समझिए। परिवर्तन की अनिवार्यता सत्ता में है। सत्ता ऊपर से नीचे की ओर नही सरकती, तब तक मौलिक परिवर्तन नहीं आता। शोषक-वर्ग का शासन शोषित-वर्ग की कठिनाइयो को नहीं समझ सकता। शोषित और शोषक का वर्ग-भेद तभी मिट सकता है जब सत्ता शोषक के हाथ से लुढककर शोषित के हाथ मे आ जाए।

यह भी परिवर्तन है, हृदय का नही किन्तु परिस्थिति का। हृदय का परिवर्तन व्यक्ति के अपने विवेक से होता है और स्थिति का परिवर्तन सत्ता से। सत्ता विवेक-शून्य होती है, उसमें परिवर्तन की मौलिकता को देखने की दृष्टि नहीं होती, इसलिए उसमे चलते-चलते विकार आ जाता है। राजतन्त्र का इतिहास देखिए। वह किस रूप मे चला और उसकी अन्त्येष्टि किस रूप मे हुई। हृदय-परिवर्तन मे सामूहिक स्थिति के परिवर्तन की अनिवार्यता नही है। किन्तु यह एक दिशा है, जो सर्वव्यापी न होने पर भी सबको सही मार्ग दिखा सकती है। सस्कार-परिवर्तन से विचार-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन से हृदय-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन से स्थिति का परिवर्तन होता है। यह क्रम अच्छाई और बुराई दोनो का है। शोषण के लिए हृदय मे स्वार्थ चाहिए और उसे छोडने के लिए परमार्थ। अपनी सुख-सुविधाओ के लिए दूसरे की सुख-सुविधाओ को न लूटने की वृत्ति जाग जाए, वैसा सस्कार बन जाए, यही हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह विवाद से परे का वाद है, इसलिए इसकी सबको अपेक्षा है।

० ० ०